आधुनिक हिन्दी कविता में
प्रेम शृंगार

रंजना, दि रखना

अपना अधिनायकत्व करके विकास के दौर में एक सुखी वर्गहीन समाज बना सके।

(८) मनोविज्ञान की वे उलझनें, जो व्यक्तिवाद को जन्म दें, त्याग दी जाएं।

(९) वही साहित्य श्रेष्ठ है जिसने अतीत में प्रकट या अप्रकट रूप से समाज की विषमताओं को प्रदर्शित करके शोषित वर्गों की हिमायत की है, जो आज की परिस्थितियों में वर्गहीन समाज के लिए ही विकास-क्रम की सीढ़ी-दर-सीढ़ी चढ़ता हुआ मनुष्य को उठानेवाला है।

इस प्रकार मार्क्सवादी आलोचकों के पाश्चात्य प्रभाव को हिन्दी में ग्रहण किया गया है। वस्तुतः इनमें से प्रायः सभी बातें ऐसी हैं, जो न प्राच्य हैं न पाश्चात्य ; वरन् सार्वभौमिक हैं। किन्तु हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में तथाकथित कुत्सित समाज-शास्त्री मार्क्सवादियों ने मार्क्सवाद के विकास को मार्क्स के लेखों, रूसी और चीनी परिस्थितियों में फिट होनेवाले विचारों को ज्यों का त्यों रूढ़िवादी ढंग से अपनाकर, अपनी मध्यवर्गीय टुटपूंजिया मनोवृत्ति, अवसरवाद तथा क्रान्ति के नेतृत्व के मुगालते में अर्थ का अनर्थ किया है। उनको समझकर मार्क्सवाद को रूढ़ि ही नहीं वरन् एक वैज्ञानिक चिन्तन-प्रणाली के रूप में नहीं लिया और भारतीय दर्शन, इतिहास, साहित्य और आलोचनों के क्षेत्रों में इनका ही विकास देखकर सिद्धान्तों का निष्कर्ष नहीं निकाला, वरन् ऊपर से 'मजबूरिए-लीडरी' की तरह थोपने की चेष्टा की। इस प्रकार मार्क्सवाद ने यहां जो विदेशी चिन्तन का रूप धारण किया, वह भारत की धरती में से अभी तक फूटकर नहीं निकला। जबकि यदि जड़ता से काम न लिया जाता तो ऐसा कभी का हो चुका होता। जब अर्ध-शिक्षित नेतृत्व होता है तब ऐसा हो जाना असम्भव नहीं।

हिन्दी-साहित्य का विद्यार्थी अपने सामने संस्कृत-आलोचना-साहित्य की लम्बी परम्परा को देखता है और अपनी इस विरासत की वैज्ञानिक व्याख्या और मूल्यांकन चाहता है। वह भरत से पण्डितराज जगन्नाथ तक के विभिन्न मतों को रखता है और कहता है कि मार्क्सवाद जितने तथ्य बताता है, रस-सम्प्रदाय उनमें से किसीसे भी कटता नहीं।

यह आवश्यक नहीं है कि धीरोदात्त नायक हो ही, तभी रस की निष्पत्ति हो। रस-निष्पत्ति तो 'गोदान' के होरी और धनिया से भी पूर्णरूपेण हो सकती है, क्योंकि सम्प्रदाय और दर्शन तथा सामाजिक व्यवस्था, ये सब बदलती रहनेवाली वस्तुएं हैं। रस-सिद्धान्त के बाह्यावरणों के ही रूप में इन्हें स्वीकार किया जा सकता है। मूलतः मनुष्य के स्थायी और संचारी भाव वही थे और हैं। इसलिए जो साहित्य केवल प्रचार को आधार बनाता है, वह यदि भावों का उद्रेक नहीं कर सकता तो वह पत्रकारिता के समान सामयिक है और उसकी सूचनात्मक उपादेयता है अवश्य, परन्तु वह आनन्द नहीं दे सकता।

रस-सिद्धान्ती इस तर्क को देकर 'कला कला के लिए है', 'कला निष्प्रयोजन-

वाद है,' 'कला शाश्वत सौन्दर्यवाद है' आदि निष्कर्ष निकालते हैं और कला के लिए युगनिरपेक्षिता को स्वीकार करते हैं। वे यह नहीं मानते कि परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। वे व्यक्ति की मेधा पर अधिक विश्वास करते हैं। वस्तुतः यह दूसरी ओर की जड़ता है। जब हम जड़ता शब्द का प्रयोग करते हैं तब हमारा तात्पर्य उस रूढ़िवादी-मनोवृत्ति से है, जो अपने तर्कों को अकाट्य समझती है और वैज्ञानिक विवेचन नहीं करती। हमें दोनों पक्षों का विवेचन सम्यक् रूप से करना चाहिए। रस-सिद्धान्ती 'कला कला के लिए' पर तब बल देता है जब रूढ़िगत मार्क्सवादी कम्युनिस्ट-पार्टी के दस्तावेज़ लिखने को कला कहता है। रस-सिद्धान्ती निष्प्रयोजनवाद का प्रसार तब करता है जब मार्क्सवादी प्राचीन और अर्वाचीन युगों की सामाजिक वास्तविकता को न समझकर रूसी परिस्थितियों को ही सामने रखता है। इसी प्रकार शाश्वत सौन्दर्य-वाद पार्टियों की बदलती नीतियों के साथ बदलते कार्यक्रमों और मानदण्डों के विरोध में प्रकट किया जाता है।

प्रगतिशील साहित्य-सिद्धान्त को स्वीकार करनेवाले बहुत-से लोग कुत्सित समाजशास्त्रियों की व्याख्या से मतभेद रखते हैं। अतः विवेच्य वास्तव में इतना दुरूह और जटिल नहीं है, जितना लोग समझते हैं।

मार्क्सवाद साहित्य को मनोवैज्ञानिक उलझनों से हटाकर उसे सहज समझ में आने योग्य बनाना चाहता है। भारतीय काव्य-सिद्धान्त इसी प्रकार पहले से ही व्यक्ति-वैचित्र्यवाद के स्थान पर साधारणीकरण का उस समय से प्रतिपादन करता आ रहा है, जब यूरोप में कला को जीवन की नकल-मात्र कहकर अरस्तू जैसे विद्वान ने स्वीकार किया था। साधारणीकरण काव्य-साहित्य का मानवीय मूल्यांकन है। साधारणीकरण की समान भूमि मनुष्य के भावों की सहज समानता मानी गई है। एक विशेष परिस्थिति में मनुष्य पर एक ही सा प्रभाव पड़ता है। इसलिए कह सकते हैं कि अमुक अवस्था में अमुक परिणाम निकलते हैं। प्रेम, ईर्ष्या, घृणा, भय आदि मनुष्य में थे, और हैं, और सम्भवतः बने रहेंगे। जो इन भावों को जीत लेता है, संसार से विरक्त सन्त हो जाता है। उसके लिए रस-सिद्धान्त नहीं है। अश्वल जनक, गीता के संन्यासी या बौद्ध भिक्षु के लिए करुण और शान्त रस की सीमाएं हैं। बर्नार्ड शा ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'बैक टू मैथू सेलाह' के अन्त में ऐसे बौद्धिक रूप से जागरूक समाज का चित्रण किया है जिसमें काव्य, कला और साहित्य को बचपन के खेल के समान ही छोड़ दिया गया है। यदि मार्क्सवाद यह स्वीकार करता है कि मनुष्य के ये भाव शाश्वत रहेंगे तब रस-सिद्धान्त का यह भाव का आनन्दपक्ष ठीक बैठता है। यदि मार्क्सवाद विकास की अनवरत गति में इन भावों का समग्ररूपेण नाश मानता है, जिसमें मानव बौद्धिक चिन्तन-प्राधान्य को प्राप्त होगा तो रस-सिद्धान्त को कोई विवाद करने की गुञ्जाइश नहीं है, क्योंकि रस-सिद्धान्त तो सहृदय के लिए ही है। कर्म और पुनर्जन्म माननेवाला व्यक्ति माया के मोह में किसीकी मृत्यु पर रोता है

ग्रौर मार्क्सवादी मृत्यु को ग्रनवरत विकास, शारीरिक क्रिया का क्षीण होकर बन्द हो जाना, ग्रौर गुणात्मक परिवर्तन मानकर शोक, क्रोध ग्रौर मोह ग्रादि करता है जैसाकि स्वयं मार्क्स ने ग्रपने पुत्र की मृत्यु पर किया था। जहां तक भाव होने का सवाल है रस-सिद्धान्त निश्चय ही ग्रखण्ड है, क्योंकि ग्रहंकार, जुगुप्सा ग्रादि सब ही ग्रभी तक मनुष्य में विद्यमान हैं। इनकी ग्रभिव्यक्ति से तादात्म्य होने पर रस-सिद्धान्ती ब्रह्मानन्द-सहोदर ग्रानन्द पाता है। बौद्ध ग्रौर जैन प्राचीनकाल में भी ब्रह्म का ग्रानन्द नहीं जानते थे, क्योंकि ब्रह्म को मानते नहीं थे। किन्तु काव्यानन्द लेते थे। इसका तात्पर्य यह हुग्रा कि काव्यानन्द की ब्राह्मणवादी व्याख्या में वह ब्रह्मानन्द है ग्रौर ग्रन्य व्याख्या में वह निकृष्ट ग्रानन्द नहीं है बल्कि महान् ग्रानन्द है।

भाव का सम्बन्ध हृदय से माना जाता है जो मन के माध्यम से ग्रात्मा को सुख देता है। ग्रात्मा को न माननेवाले बौद्ध के लिए वह हृदय को ग्रानन्द देता है। मार्क्सवादी के शब्दों में हृदय बौद्धिक चेतना का ही एक पक्ष है। इस प्रकार बुद्धि-पक्ष ग्रौर हृदय-पक्ष यहां एक हो जाते हैं, क्योंकि वैज्ञानिक ग्रनुसंधान के ग्रनुसार हृदय का धक् से रह जाना इत्यादि क्रियाएं चिन्तन का शरीर पर प्रभाव है। बुद्धि ही के कारण भाव को समझा जा सकता है। बुद्धि ग्रौर भाव मस्तिष्क के गुणात्मक परिवर्तन हैं। इस प्रकार ग्रभी तक जो एक खाई समझी जाती थी वह भ्रम-मात्र था। पागल व्यक्ति का भाव उसके बौद्धिक विकास के ग्रनुसार ही होता है। भाव का मस्तिष्क में चित्र-रूप से उदय होना, कल्पना की सहायता से बढ़ना ग्रौर ग्रभिव्यक्ति के रूप में प्रकट होना उस क्रिया के समान है जैसे दीप-शिखा में से निकलता हुग्रा ग्रालोक।

भाव बुद्धि पर निर्भर है। किसीके भाव-पक्ष का प्रबल होना उसके चिन्तन के उस पक्ष का प्रबल होना है जिसमें कल्पना-ग्राह्य-शक्ति, संवेदनशीलता ग्रौर ग्रात्मसात् कर लेने की शक्ति है।

भाव यद्यपि सार्वभौम है किन्तु उसको बाह्य पक्ष ग्रर्थात् दर्शन, संस्कार, सामाजिक व्यवस्था, ग्राचार-व्यवहार, राजनीति ग्रौर इतिहास इत्यादि सदैव प्रभावित करते रहे ग्रौर इसीलिए एक ही विषय से दो युगों में दो प्रकार के भावों का उदय हो सकता है। जैसे राम द्वारा शम्बूक-वध प्राचीनकाल में वीर भाव को जन्म देता था। ग्राज क्योंकि वह राम का श्रेष्ठ कार्य नहीं समझा जा सकता इसलिए वहां भाव बदल जाता है। एकलव्य का ग्रंगूठा कटवाना जहां पहले गुरु-भक्ति का भाव जगाता था वहां ग्रब गुरु का ग्रत्याचार दिखाई देता है। इसी प्रकार किसी युग के भाग-विशेष को तत्कालीन युग-सन्दर्भ से हटा देने पर भाव का प्रभाव भी बदल जाएगा, जैसे लक्ष्मण के सामने सुन्दरी बनकर ग्रानेवाली शूर्पणखा 'रामायण' की कथा को पहले से जाननेवाले पाठक के सामने शृंगार को जन्म नहीं देगी बल्कि पूर्वग्रह उसे घृणा की दृष्टि से दिखाने लगता है। जो व्यक्ति पन्नादाई की कथा में मां को वध के लिए पुत्र की ग्रोर उंगली उठाते देखकर कहेगा कि यह वात्सल्य-विरोधी भाव है ग्रौर उस महान त्याग को नहीं

देखेगा तो उसमें वही भाव उत्पन्न नहीं होगा जो पन्नादाई की वीरता पर मुग्ध कर दे। इस प्रकार हम देखते हैं कि रस-सिद्धान्त भाव के होते हुए साधारणीकरण के द्वारा मार्क्सवाद से भी पुराना और साहित्य-सिद्धान्त के क्षेत्र में एक वैज्ञानिक व्याख्या है। किन्तु उसके वाह्यावरण तथा आवश्यकताएं सदैव बदलती रही हैं और आज भी बदल रही हैं। धीरोदात्त नायक की कल्पना सामन्तीय व्यवस्था का आदर्श थी। किन्तु वर्गहीन समाज की व्यवस्था समाज-शोषित को नायकत्व प्रदान करना चाहती है। अतः वह रस-सिद्धान्त के सामन्तीय और पूंजीवादी वाह्यावरणों को तोड़ना चाहती है किन्तु रस-सिद्धान्त के मूल को नहीं बदल सकती, क्योंकि मार्क्सवाद के अनुसार मनुष्य प्रकृति को काम में ला सकता है, उसके अनजाने प्रयोगों को समझ सकता है लेकिन बदल नहीं सकता। वह एक ही पदार्थ के हो सकनेवाले समस्त गुणात्मक परिवर्तनों को अपने काम में ला सकता है, जैसे बादल बना सकता है, वृर्षा कर सकता है, भाप बना सकता है, बर्फ बना सकता है, जलाणु को तोड़कर उसकी शक्ति निकाल सकता है किन्तु जल का जलत्व नहीं बदल सकता।

रस का वर्णन 'रसो वै सः' करके उपनिषद् में आया है जो भरत से प्राचीन है। वास्तव में इस रस शब्द का अर्थ केवल आनन्द है जो जल आदि तरल के पर्यायस्वरूप प्रयुक्त हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखने पर हमें ज्ञात होता है कि उपनिषदों के समय में दास-प्रथा टूट रही थी और ब्रह्म इतना दुरूह और व्यापक हो गया था कि उसका आनन्द भी ज्ञान के ही माध्यम से अवाक् और चमत्कृत हो गया था। यही रस जब अपना विकास करके सामन्त-काल के प्रारम्भ में आया अर्थात् लिच्छवि आदि गणों की टूटती दास-प्रथा के खण्डहरों पर अजातशत्रु, विडूढभ, उदयन आदि के सामन्तीय राज्य सर्फ प्रथा को लेकर समाज के विकास में प्रगति के चिह्न बनकर आए, तब बर्बरयुगीन अर्थात् दास-प्रथावाले समाज के भाग्यवाद पर षड्दर्शनों के रूप में विकास करनेवाले चिन्तन ने उस समय के आस्तिक और नास्तिक दुःखवाद पर पुरुषार्थ की जय-ध्वनि की और दास-प्रथा के टूटने पर एक वर्ग के प्रारम्भिक स्वातन्त्र्य का जो सहज उच्छ्वास लिया, उस समय आचार्यों ने मानवतावाद के आधार पर रस और साधारणीकरण के सार्वभौम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और उच्च वर्णों तथा वर्गों में रहनेवाली कविता एक महान रक्षक लोकनायक के रूप में करुणा के माध्यम से जनसमुदाय तक मानवीय भावों का आश्रय लेकर पहुंच गई।

कालान्तर में सामन्तवाद ने जब अपना प्रगतिशील कार्य समाप्त कर दिया और शोषण के नये रूपों में सुदृढ़ हो गया तब रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि वाह्यावरणों ने रस के मूल सिद्धान्त को ढक लेने का प्रयत्न किया, किन्तु की हुई प्रगति को झुठलाना या मिटा देना इनके लिए असम्भव प्रमाणित हुआ।

मार्क्सवादी साहित्य के मानदण्ड ऐसे देशों से आए हैं जहां सभ्यताएं तुलनात्मक रूप से नई हैं और जहां इतने मानवीय सिद्धान्त का इतने वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादन

हुआ ही नहीं था। मार्क्स ने जब भारत के बारे में अध्ययन किया था उस समय यूरोप में भारत के विषय में जानकारी नहीं के बराबर थी। अतः उसका इस विषय में अज्ञान सहज और स्वाभाविक है। रूसी सिद्धान्त-शास्त्रियों ने मार्क्सवाद को अपने देश पर अपनी परिस्थितियों के अनुसार लागू किया। यही चीनियों ने भी अपने देशानुसार अपने देश में किया। भारतीय मार्क्सवादियों ने पुरातन का अध्ययन करने में सदैव पुनरुत्थानवाद का भय देखा या श्रीपाद अमृत डांगे की तरह अर्थ का अनर्थ किया अथवा विन्सेण्ट स्मिथ के आधार पर मार्क्सवाद को अनिश्चित रूप में विकृत किया और वे वास्तव को समझने में असमर्थ रहे।

रस-सिद्धान्तियों का कहना है कि मार्क्सवादी लेखक केवल वर्ग-संघर्ष ढूंढ़ते हैं। वे साहित्य के सौंदर्य को नहीं देखते वरन् उसकी राजनीतिक चेतना को देखते रह जाते हैं। यह सत्य है। आधुनिक रूसी उपन्यासकार इसी राजनीति से इतने पराभूत हो गए हैं। 'नो आर्डिनरी समर', 'फार फ्रॉम मास्को' आदि उपन्यासों में ऐसे वाक्य तक मिल जाते हैं जैसे 'विल ऑफ स्टालिन इज़ द विल आफ पीपल' जबकि मार्क्सवाद के अनुसार लिखना चाहिए था 'विल आफ द पीपल इज़ स्टालिन्स विल' अर्थात् पहली जगह है स्तालिन की इच्छा जनता की इच्छा है, जबकि होना चाहिए था, जनता की इच्छा स्तालिन की इच्छा है। रूस ने महान् क्रान्ति की है, किन्तु उसने क्रान्ति के पहले के महान् लेखकों जैसे हिला देनेवाले लेखक पैदा नहीं किए। शोलोखोव अवश्य प्रतिभाशाली लेखक है। एलेक्सी तालस्ताय भी उसी श्रेणी में आता है। जिस देश में अभूतपूर्व सामाजिक क्रान्ति हुई है वहां महान कला का अभाव देखकर आश्चर्य होता है। कह सकते हैं कि निर्माण-काल में ऐसा होता है। हिन्दी में यह सम्भव है, क्योंकि यहां सिद्धान्त-प्रतिपादन का युग है। अतः उसमें अभाव रह जाना आश्चर्यजनक नहीं। किसी भी आधुनिक रूसी उपन्यास में लदी हुई देश-भक्ति के अतिरिक्त और कोई विशेषता नहीं मिलती। समस्त साहित्य में यह एकांगिता है, इसका कारण है। मार्क्सवाद केवल वर्ग-संघर्ष की व्याख्या नहीं है, वह मानव-जीवन के समस्त अंगों का व्यापक अध्ययन है, जो सम्पूर्ण मनुष्य को छूने की सामर्थ्य रखता है। प्रत्येक युग में जो भी विचारधारा रही है उसने मनुष्य को, उसकी संस्कृति को समर्थ बनाया है। उसके चिन्तन को उकसाया है जबकि सिद्धान्त-प्रतिपादन के आवेश में मार्क्सवादी लेखकों ने अपने को अधिकांशतः एकांगी कर लिया है। गहराई उन महान कलाकारों में ही हो सकती है जो मनुष्य की असीम मेधा को आंककर उसे उसके सामाजिक सापेक्ष रूप में देख सकें। यही प्रश्न पूछा जाता है कि सूर में जो बाल-वर्णन है उसे किस वर्ग-संघर्ष की कसौटी पर आंका जा सकता है। एक कुत्सित समाज-शास्त्री ने इसका उत्तर दिया था—सामन्त-काल में बच्चों से प्रेम करना वर्जित था, अतः सूर ने बाल-लीला का वर्णन करके सामन्तवाद की जड़ें हिला दीं। ऐसे लोग ही कबीर और तुलसी को एक ही मानदण्ड से आंकते हैं। कालिदास के मदान्ध यक्ष की अमर विरह-

गाथा में वर्ग-संघर्ष ढूंढ़ने में असमर्थ होकर वे उसे हीनयानी बौद्धों की भांति कामुक साहित्य कह देते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि जब लेखक वर्णन करता है तब वह सर्वांगीण मनुष्य को देखता है जिसका वर्ग-संघर्ष आधार है अवश्य, किन्तु सब-कुछ वही नहीं है। एंजिल्स ने स्वयं इसे स्वीकार किया था कि वर्ग-संघर्ष के अतिरिक्त भी प्रभाव डालनेवाले कुछ तथ्य हैं। साहित्य इसी सम्पूर्ण मानव का अध्ययन और चित्रण है। साहित्य सौन्दर्य का स्रष्टा है। सौंदर्य सापेक्ष होता है तभी वह सामाजिक आधार लेता है। साधारणीकरण के आधार सामाजिक और आर्थिक आधार हैं जो वर्गवाद का विरोध करते हैं और इसलिए रस-सिद्धान्त भी जहां तक मनुष्य के भाव-चित्रण का प्रश्न है, वर्गवाद का विरोध करता है। कितनी ही सुन्दर रचना क्यों न लिखी जाए किन्तु यदि वह युग-सत्य का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती तो वह चमत्कारवाद है, जिसे अधम काव्य या ऐसे ही साहित्य की कोटि में गिना जाएगा। अथवा वह अतीत की नकल होगी जिसमें समस्त भौतिक तत्त्वों के होते हुए भी उनके गुणात्मक परिवर्तन के स्वरूप में चेतना नहीं होगी। जो साहित्य युग-सत्य पर आधारित होता है वह अपने काल में अपनी उस नवीनता, उपादेयता और भाव के सफल चित्रण के कारण अपनी महत्ता रखता है; किन्तु वही साहित्य अतीत का हो जाने पर इसलिए अपना मूल्य रखता है कि उसमें गत युग के मानव के भाव-चित्रण की सफलता, मानवीयता और उसकी भव्य जय-यात्रा का ज्वलन्त गौरव प्रतिध्वनित है। इसीलिए जिस साहित्य में केवल प्रचार होता है या चमत्कारिक प्रयोगवाद होता है, जो भाव को जागरित नहीं कर सकता अर्थात् मानवीय स्वभाव का सफल चित्रीकरण नहीं कर सकता, वह इतिहास बनकर रह जाता है। उसे साहित्य की गणना में नहीं लिया जा सकता। मध्यकालीन वीर-काव्य में भी यही एकांगिता थी जिसके कारण वह आज वाल्मीकि का सा प्रभाव नहीं डाल पाता। आज बेन जॉन्सन के स्थान पर शेक्सपियर ही अधिक पसन्द किया जाता है। शेक्सपियर के पात्र अपने सफल चित्रण के कारण ही, अपनी मानवीयता के कारण ही, अपना महत्त्व रखते हैं। किसी सिद्धान्त को प्रचारित करनेवाला साहित्य यदि केवल रूखा प्रचार है तो उसको पत्रकारिता की सीमा में ही रखा जा सकता है।

यहां शाश्वतवादी काव्य के निष्प्रयोजनवाद को लेकर कहीं प्रसन्न न हो उठें, क्योंकि निष्प्रयोजन वस्तु निष्प्रयोजन है। साहित्य अपने युग में भी बिना मानवीय भाव-चित्रण के प्रभाव नहीं डाल सकता। मनुष्य के विचार बदलते हैं; समाज, राजनीति भी बदलते हैं। इसी प्रकार साहित्य और कला भी बदलते हैं। मनुष्य के विचार जब परिवर्तित होते हैं तब मनुष्य के भाव भी बदलते हैं। अतः भाव विचार से सापेक्ष है। स्थायी भाव भी अपना रूप बदलते हैं। भूख और प्यास की तरह जो मनुष्य के कुछ भाव हैं (जैसे वीर, प्रेम आदि) वे मनुष्य में रहते आए हैं और हैं, किन्तु उनके सामाजिक आधार, मानदण्ड और मूल्यांकन बदल चुके हैं।

रस-सिद्धान्त का प्रतिपादन नाट्य-शास्त्र के साथ अपना विकास कर सका था।

नाटक और काव्य में भेद है। काव्य से अधिक नाटक को सीधे जन-समाज से सम्बन्ध स्थापित करना पड़ा था। उसमें प्रयोगवाद की दुरूहता की गुंजाइश नहीं थी। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि रस-सिद्धान्त जन-समाज के लिए ही पैदा हुआ था।

रस-सिद्धान्त की दूसरी विशालहृदयता है कि जब आवश्यकता हुई है, उसमें नई बातों का समावेश भी हुआ है। वात्सल्य को एक पूर्ण रस के रूप में स्वीकार किया गया है, जबकि प्रारम्भ में वह नहीं माना गया था।

यहां भाव और विचार का भेद और स्पष्ट कर देना आवश्यक है। हमने कहा है कि विचार से भाव नियन्त्रित होता है। भाव बुद्धि से ही निस्सृत होता है। किन्तु विचार भी कई प्रकार के होते हैं। एक विचार ऐसे होते हैं जो बुद्धि को उलझाते हैं। रस सुलझानेवाले विचारों से प्राप्त होता है। मनुष्य की कुछ चेतन प्राकृतिक वृत्तियों को जगाने की सामर्थ्य विचार में आ जाती है तब सहज आनन्द होता है। अपने विचार के भावनात्मक रूप से जब लेखक पाठक के भावनात्मक विचार को मिला देता है उस समय एक तादात्म्य का जन्म होता है। इस प्रक्रिया का माध्यम साधारणीकरण है। प्राचीन काव्य-शास्त्री स्थायी वृत्तियों को जागरित करने की उन परिस्थितियों से काव्य-रस का जन्म मानते हैं, जो सांसारिक नहीं हैं, वरन् काव्य-रूप धारण करती हैं। 'सांसारिक' का अर्थ उनका भौतिक के स्थूल रूप से है। चेतन, जिसे हम बता चुके हैं, उनको भाव जागरित करनेवाला प्रतीत होता है। चेतना का चित्रमय चिन्तन भाव ही हो जाता है। भरत ने केवल यही कहा था कि वे परिस्थितियां, जो भावों को जगाती हैं, विभाव हैं। भाव आलम्बन द्वारा जागरित तथा उद्दीपन द्वारा उद्दीप्त होते हैं। अन्य भाव, जो सहायक होते हैं वे संचारी भाव हैं। 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'। इस प्रकार रस की निष्पत्ति होती है।

मार्क्स से पूर्व भी इतिहास प्रगतिशील था। मार्क्स ने केवल वैज्ञानिक विश्लेषण से उस नियम को समझा था। मार्क्सवाद मार्क्स की रचनाओं में समाप्त नहीं हो जाता, वह एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है। जब तक विज्ञान की उन्नति ही से नये तथ्य प्रकट नहीं होते, जो उनके वैज्ञानिक सिद्धान्तों को काट दें, तब तक वह सिद्धान्त लागू रहेगा। किन्तु मार्क्स के सिद्धान्त का यह अर्थ नहीं कि वह अपरिवर्तनशील रूप से अक्षरशः सबपर लागू हो जाए। पेड़ दूसरी तरह से बढ़ता है, नदी दूसरी तरह से। गत्यात्मकता मूल नियम है। इसी प्रकार प्रत्येक देश की विभिन्न सामाजिक परिस्थिति होती है। प्रत्येक देश के साहित्य में विभिन्न विशेषताएं होती हैं, उनमें भेद के रहते हुए भी एक सार्वभौम मानवीयता उनके भीतर रहती है, जो शताब्दियों को भेद जाती है। तभी यूनान का होमर हज़ारों वर्षों के उपरान्त भी आज आनन्द देता है। उसमें जो 'वह' है जो 'आनन्द' देती है वह उसकी 'मानवीयता' है, जो हमारे 'भावों' को रमाती है, जगाती है, और वह भव्य आनन्द ही 'रस' है।

—रांगेय राघव

वासना : पुरुष

संसार के इतिहास में किसी भी युग में काव्य की सर्वप्रिय अनुभूति सौंदर्य का वर्णन ही रही है। इसी सौंदर्य ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए वेदना का आश्रय लिया है, क्योंकि वेदना व्यक्ति से सहज आत्मीयता करके, दूसरे के रागपक्ष को जागरित करती है। मनुष्य के समाज में ध्वंसात्मक तत्त्वों से मनुष्य की पीढ़ियों का ज्ञान निरंतर संघर्ष करके, आगे का ऐसा मार्ग खोजने में लगा रहा है, जिसमें मनुष्य मनुष्य के निकट आ सके।

इस विकास के दो पक्ष रहे हैं। मनुष्य ने एक ओर लोक-कल्याण को महत्त्व दिया है, दूसरी ओर उसने आत्मकल्याण की भूमि को भी स्वच्छ करने का यत्न किया है। जिस युग में इन दो पक्षों का तादात्म्य नहीं होता वहां काव्य जनता में अपना गहरा आधार नहीं बना पाता। विवेक और हृदय का असामंजस्य रागात्मक भूमि बनाने में असमर्थ हो जाया करता है। जब क्रिया और चिंतन का सम्यक् स्वावलंबन और परापरालंबन होता है, तब श्रद्धा और आस्था उत्पन्न होती है, जिनसे साधारणीकरण होता है। इस रागात्मक संबंध की अवस्थाएं मनुष्य की आयु के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं, किंतु 'रति' सबमें होती है। वह 'रति' यदि व्यक्तिपरक ही है, और आत्मपक्षीय है, तो वह लोक-कल्याण में समर्थ नहीं होती, इसीलिए 'रति' का व्यापक स्वरूप 'मानवीयता' ही हमारे काव्य के स्थायित्व और प्रियता का नया मानदण्ड है। यदि हम इसे स्वीकार नहीं करते तो युगांतर के साहित्य में युगपरक कवि-आदर्श के बंधन के साथ समाज-यथार्थ के सत्य का मेल नहीं बिठा सकते।

आज के काव्य में पुरानी आस्तिकता नष्ट नहीं हुई है, आस्तिकता का आधार बदल गया है। उसका पहला रूप प्रेम में परिवर्तित हुआ है, अतः सबसे पूर्व हमें उस-पर ही दृष्टिपात करना आवश्यक है, क्योंकि प्रेम को एक विचारधारा के लोग अत्यंत पलायनवादी वस्तु समझते हैं, जबकि दूसरे प्रकार के विचारक उसे ही मनुष्य का शाश्वत सत्य समझते हैं। संक्षेप में एक वर्ग प्रेम में व्यक्तिवाद देखता है, दूसरा वर्ग प्रेम में ही आत्मविकास और तृप्ति देखता है। दूसरा वर्ग श्रृंगार को ही काव्य की आत्मा मानता है। पहला वर्ग प्रेम के व्यक्तिपक्ष को छोड़कर करुण को ही विशेष महत्त्व देता है। केवल करुण का विकास जिस प्रकार मध्यकाल में भक्ति के वैराग्य में परिणत हो गया और संम्प्रदायपरकता में डूबकर रागात्मक पक्ष से दूर हो गया, उसी प्रकार नई

कविता में उसका विकास बुद्धिपक्ष को पकड़ता चला गया और उसमें व्याख्यात्मकता अपनी अति को प्राप्त हो गई। केवल शृंगार का विकास अपने व्यक्तिपक्ष में रीति-कालीन काव्य के रूप में वासनापरक बनकर अपने को चमत्कारों में खो बैठा, और उसी प्रकार नई कविता में वह पुनरावृत्ति और अस्पष्टता में डूब गया। ये दोनों तो अतियां हैं, जबकि नई कविता ने वास्तव में बीच का मार्ग पकड़ा और इसीलिए उसने अपना विकास किया। प्रेम तो मनुष्य की संस्कृति का सारांश है, जिसको ही मनुष्य अभी तक अनेक प्रयोगों से अनुभूत करता आया है। प्रेम का अस्तित्व अनेक रूपों में है। स्त्री-पुरुष का प्रेम ही इस समाज में प्रेम कहलाता है क्योंकि अन्य आकर्षणों के लिए वात्सल्य और भक्ति के नाम प्रयुक्त किए जाते हैं। स्त्री और पुरुष के प्रेम की उत्कट तीव्रता यौवन में ही होती है। इसका मूल कारण प्रजनन का प्राकृतिक नियम है। मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति ने स्त्री-पुरुष के संबंध को प्रजनन की अनगढ़तामात्र से उठाकर उदात्त से उदात्त किया है। प्रेम यौवन की अभिव्यक्ति है। प्रेम कभी भी व्यक्ति-परकता में समाप्त नहीं हो जाता, क्योंकि प्रेम का परिणाम इस संसार में सृष्टि का विकास है। जहां विकास के स्थान पर रहस्यात्मक तन्मयता में सांसारिक जीवन की इति की जाती है, वहां प्रेम वास्तव में किसी प्रकार अपना स्वरूप परिवर्तित कर लेता है। वह भक्ति के ही प्रकारांतर स्वरूप में बदल जाता है। अतः उसे हम शुद्ध प्रेम के अंतर्गत नहीं रख सकते। किंतु उसे इसीलिए छोड़ा भी नहीं जा सकता, क्योंकि शुद्ध प्रेम अपने सामाजिक स्वरूपों में अभिव्यक्ति पाता है और वह उसके ही साधन का रूप बन जाता है। जब कभी समाज में अधिक बंधन होते हैं तब ऐसे ही अनेक प्रतीकों का सहारा लेकर वह प्रकट होता है। जब लोभ की सीमा पार हो जाती है और व्यक्ति तन्मयता में लीन होता है तब उसकी वासना उसे उसकी जघन्यता से छुड़ा लेती है। प्राचीन-काल में शरीरधर्म को जघन्यता के अंतर्गत नहीं माना जाता था, शरीरधर्म को जघन्यता में मानना ही मध्यकालीन इतिहास में प्रारंभ हुआ जबकि स्त्री और पुरुष में द्वंद्वभाव उन्नति को प्राप्त हुआ।

साहित्य में प्रेम के अनेक रूप रहे हैं। वैदिक साहित्य में हम प्रेम की उत्कटता अवश्य पाते हैं किंतु उसमें शारीरिक मिलन को ही प्रभुत्व दिया जाता था। परवर्ती वैदिक साहित्य और महाभारतीय साक्ष्य में भी हमें ऐसा ही मिलता है। उस समय एक प्रमुख विशेषता यह है कि स्त्री अपने को मुक्त नहीं समझती, वह पुरुष के शरीर-धर्म को अपने शरीरधर्म के लिए आवश्यक समझती है और इसीलिए पुरुष से स्वच्छंदता से कहती है कि आओ मुझे गर्भाधान कराओ। हमारे युग में नारी ऐसा नहीं कहती। रामायण में हमें यद्यपि यौन वर्णन तो काफी मुखर मिलते हैं, परंतु पुरुष भले ही विरहकातर होकर शरीरधर्म की ओर इंगित करते मिलते हैं, किंतु नारी के रूप में हमें वासना कम मिलती है, हृदय की भावनाएं, तथा पवित्रता की ओर अधिक इंगित मिलता है। लौकिक संस्कृत के काल में हमें जहां पुरुषों के वर्णन में वासना अधिकाधिक मिलती

जाती है, वहां नारी अधिकाधिक अशरीरी प्रेम की तन्मयता की ओर बढ़ती जाती है। परवर्ती संस्कृत काव्य में हमें पुरुष की ही वासना दिखाई देती है। अपभ्रंश काव्य में पुरुष एक ओर वैराग्य की बात करता है, और नारी की निंदा करता है; दूसरी ओर वह नारी को अपने विलास की वस्तु बना लेता है, पर नारी का मातृत्व अधिक सम्मान प्राप्त करने लगता है। हिंदी काव्य की वीर-गाथाओं में नारी का यौवन केवल भोग का साधन है। भक्ति-काव्य में वैराग्य में युवती की निंदा है, किंतु उसके मातृत्व की उपासना है। तत्कालीन सूफी कवियों में हम युवती के वर्णन की प्रशंसा भी पाते हैं और प्रेम में पुरुष को भी उसके लिए समान रूप से आकर्षित पाते हैं, जबकि वह प्रेम सदैव रूप के आकर्षण से ही जन्म लेता है। रीतिकाव्य में नारी का नखशिख-वर्णन है, जिसमें स्त्री-पुरुष की शारीरिक वासना को ही विभिन्न रूपों में वर्णित किया गया है। हिंदी के पुनर्जागरण-युग में हम नारी का सम्मान फिर देखते हैं और पुरुष को नारी के प्रति अधिक सम्मान देते हुए पाते हैं। द्विवेदी-काल में वासना के पक्ष को पारिवारिक मर्यादा में ढंक दिया गया किंतु छायावादी काव्य में प्रेम को फिर स्वतंत्र करने की चेष्टा की गई। उसके मूल में शरीर की वासनाओं का दमन ही था। नयी कविता ने उस दमन को उदात्त रूप देने की उन चेष्टाओं को अस्वीकार करने का प्रयत्न किया जो कि समाज में शरीर और मन का सामंजस्य स्थापित करने में असमर्थ थीं। इसलिए उसने शरीर-धर्म की पवित्रता को स्वीकार किया और उसका हल निकाला कि स्त्री और पुरुष को एक-दूसरे को अपना पूरक समझना आवश्यक है और स्त्री को भी प्रेम की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य में ईश्वर और रहस्यभावना की साधना स्त्री-पुरुष के प्रेम के उदात्तीकरण का माध्यम थी। छायावाद ने उसी पुरानी परंपरा को और भी जोरों से, किंतु 'अरूप' की अस्पष्टता में तन्मय करके पकड़ा था। नये कवि ने उदात्तीकरण के लिए यह प्रयत्न किया कि वह अपने लौकिक प्रेम को प्रत्येक अर्थ में पवित्र माने और किसी अरूप की शरण में नहीं जाए। यहां हमें यह अवश्य याद रखना चाहिए कि उसने छायावादी परंपराओं से एकदम ही नाता नहीं तोड़ा, वरन् उसमें से विकास किया। इसलिए हमें 'उस' के स्वरूप-परिवर्तन का क्रमशः विकास भी मिलता है।

पाश्चात्य प्रेम की भावना और भारतीय प्रेम की तीव्रता तो एक-सी होती है, किंतु दोनों के 'एप्रोच' में ऐतिहासिक परंपराओं के कारण भेद रहा है। अपने यौन संबंधों में पाश्चात्य जगत् हमारे प्राच्य जगत् की तुलना में कहीं अधिक स्वतंत्र है। यद्यपि आज भारतीय नारी अपने बंधन तोड़ रही है किंतु उसने अभी तक पाश्चात्य जगत् के यौन मापदंडों को अपना आधार नहीं बनाया है।

प्रेम हमारे सबके हृदयों में रहता है। किन्तु वह अपनी अभिव्यक्ति अपने समाज के नियमों के अनुकूल रहकर किया करता है। शिक्षा का प्रभाव भी अपना बहुत बड़ा महत्त्व रखता है। बहुकुटुम्ब-प्रथा में जिस प्रकार दाम्पत्य प्रेम एक पारिवारिक कर्तव्य

से बंधा रहता है, उसी प्रकार केवल पति-पत्नी के परिवार में उस भावना का अभाव पाया जाता है। प्रेम को यदि एक आवेश-मात्र माना जाए तो वह वास्तव में प्रेम नहीं है। प्रेम स्त्री-पुरुष का स्थायी सम्बन्ध है। यह भारतीय चिंतन में अपनी मर्यादा रखता है। पाश्चात्य साहित्य में स्त्री-पुरुष के शारीरिक सम्बन्ध की क्रिया को भी प्रेम करना ही मानते हैं—'टु मेक लॅव, मेड लॅव' इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जबकि हमारे आधुनिक साहित्य में इसका प्रचलन नहीं है।

प्रेम की मूल भावना प्राकृतिक है, और उसका वर्ग-सम्बन्ध से कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु प्रेम के समाज-पक्ष का वर्गीय जीवन से बहुत बड़ा सम्बन्ध है। जब वर्गों में रहनेवाले प्राणियों का हृदय-पक्ष मुखर होता है और उसकी समवेदना के द्वारा साधारणीकरण होता है, तब श्रद्धा उसका मूल बनती है। किन्तु हृदय-पक्ष तो परिस्थितियों में ही प्रकट होता है। वे परिस्थितियां सदैव रहती हैं। उनकी अवस्थिति भाव-पक्ष पर अपना प्रभाव डालती है। हम उसे कुत्सा कहते हैं जो यह कहा जाता है कि विभिन्न वर्गों के लोगों में विभिन्न प्रकार से मनुष्य की प्रवृत्तियां काम करती हैं। प्रवृत्तियां समान रहती हैं। भाव उनपर जहां तक आश्रित होते हैं, समान रहते हैं। किन्तु भाव में विचार सदैव समन्वित रहता है। विचार का विकास वर्ग और शिक्षा तथा ऐसे कारणों पर निर्भर होता है, अतः वर्ग का भी प्रेम पर प्रभाव पड़ता है, जिसे हम यथास्थान स्पष्ट करते चलेंगे।

नये युग की चेतना में यदि प्रेम ही अस्वीकृत किया जाएगा तो क्या ऐसी मान्यता कभी समाज स्वीकार कर सकेगा? यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि कवि का हृदय कविता में भावाभिव्यक्ति करते समय जितना सुसंस्कृत होता है, उतना अन्यों का नहीं। अतः उसकी अभिव्यक्ति अन्यों की तुलना में कहीं अधिक सुन्दर हुआ करती है। हमारा युग एक संक्रान्ति का युग है और यहां संक्रान्तियों में से संक्रान्तियां जन्म लेती हुई दिखाई देती हैं। हम अपने समस्त वर्तमान के इतने निकट हैं कि अभी पूरी परख करनेवाली दूरी को हमारी दृष्टि नहीं पकड़ पा रही है। हमें तो वास्तव का ज्ञान तब ही हो सकेगा जब हमें सापेक्ष तुलना करने की 'दूरी' प्राप्त करने का सुयोग प्राप्त हो गया हो। किन्तु उसके बिना भी आज के युग में हम उसकी झलक प्राप्त कर सकते हैं। उसका कारण है कि हम बहुत तेज़ी से बदलते चले जा रहे हैं। हमारे विचार ही तो नये युग की सृष्टि कर रहे हैं!

पुरुष का समाज में अधिकार है। वह स्वामी है। उसने शासन किया है। वह मर्यादाओं का निर्माता रहा है। सारे सम्बन्धों की नियमिति उसीके हाथों में रही है। उसने जीवन के सम्बन्धों की माप-जोख की है। अतीत में वह भोगी था, दर्शन ने इसीके प्रतिरूप भोक्ता को प्रधानता दी। और भी व्यापक रूप में भोक्ता का अहं भोग्य में बदला, किन्तु वह सत्य समाज के व्यवहार में नहीं उतर सका। यद्यपि मातृ-सत्ताक समाजकालीन चिंतन ने शाक्त परम्पराओं में विकसित हो जाने पर शिव में अपना

इकार स्थापित करके उसके शिवत्व को मुखर किया, किन्तु साधना के क्षेत्र में 'देवी' अपने समस्त रूपों में माध्यम बनी रही, अन्त नहीं हो सकी। जब स्थूल से मनुष्य सूक्ष्म की ओर अग्रसर हुआ तब उसने प्रेम की भावना का तो त्याग नहीं किया, वह कामुकता का अवश्य विरोधी हुआ और वैष्णव चिंतन की राधा और कृष्ण का द्वन्द्व जन्मा। उसने भी समाज के गतिरुद्ध हो जाने पर रीतिकालीन काव्य की रूढ़िबद्ध कामुकता में अपना अन्त किया। द्विवेदी-काल में उसका फिर उपयोगितावाद के आधार पर विरोध हुआ। उसके अनन्तर निराला में अवश्य हमें स्वर की नवीनता प्राप्त हुई। परन्तु वास्तविक परिवर्तन सामूहिक रूप से नये कवियों द्वारा ही उपस्थित किया गया। सुमित्रानन्दन पंत ने रूप की माधुरी की ओर अधिक दृष्टिपात किया। किन्तु उनके काव्य में पौरुष का अभाव ही सा उपस्थित रहा। नये कवि को इस विषय में न सुमित्रानन्दन पंत से तृप्ति हुई, न सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' से। उसने नया मार्ग निकालने की चेष्टा की। निस्संदेह, इन कवियों में से कोई भी अकेला ऐसा नहीं उठ सका जिसने नये मार्ग का निर्माण कर दिया हो, इसीलिए समूह-युग में व्यक्ति को अलग पहचानना कठिन हो गया।

पुरुष की वासना प्रवृत्ति के क्षेत्र में नहीं बदली, न भाव-पक्ष में; वह बदली विचार के क्षेत्र में। उसका नारी से समाज में पुराना सम्बन्ध क्रमशः परिवर्तित होने लगा। यही नहीं, उसके अपने विश्वास भी वही नहीं रहे जो उसके पूर्वजों के थे। इस प्रकार उसमें द्वन्द्व का जन्म हुआ और उसके भीतर की कोमलता छटपटाने लगी। उसके सामने नारी का कोमल सौंदर्य अपने-आपमें सबसे असंबद्ध इकाई नहीं रहा, बल्कि वह उसे सापेक्ष रखकर अन्यों के साथ में ही देखने लगा। कवि कहता है :

तुम्हारी रेशमीन ज़ुल्फों को सहलाती
मेरे प्यार की लीलायित उंगलियों पर
शोषण के भयंकर भुजंगम दम तोड़ रहे
जीवन-जमुना के नये प्रवाहों पर
जन-जन के बेटे, नये युग के कन्हैया बनकर,
नरभक्षी लोभ के कालियानागों का
कर रहे दमन, उन्हें एड़ियों से रौंदकर।
और तुम्हारी चमेली-सी बाँहों की
भँवराली, मोहिनी रोम-कुंजों में
उतर आई है नये प्रणय की मुक्त रास-रजनी।

—वीरेन्द्रकुमार जैन

प्यार और शोषण की तड़पन, दोनों ही कवि को झकझोर उठती हैं। वह देखता है कि अब उसकी प्रिया स्वतन्त्र रूप से उसीकी नहीं है। किन्तु साथ ही वह यह भी देख रहा है कि अब नायकत्व 'जन जन के बेटों' के हाथ में चला गया है। नरभक्षी

लोभ के कालियानागों के फन विष उगल रहे हैं, किन्तु नये कन्हैया जीवन रूपी जमुना के नये प्रवाहों में अपनी एड़ियों से उन विषाक्त फनों को कुचल रहे हैं। वीरेन्द्रकुमार जैन की कल्पना-शक्ति बहुत ही उर्वर है। उसकी कविता ऐसी है जैसे गहरे नीले उथल-पुथल करते समुद्र के साथ तीरवर्ती घनी हरियाली और रंगीन आकाश, तीनों एक साथ उपस्थित हो गए हों। उसमें जीवन की यातना है, ऐसी जिसकी प्रतिध्वनि आकाश तक गूंजती हुई सुनाई देती है, किन्तु आशा की रंगीनी और नवजीवन की हरियाली भी साथ-साथ दिखाई पड़ती है। 'चमेली-सी बांहों की भंवराली' में इसी प्रकार की रंगीनी है, जो अन्य वर्णित वस्तु के साथ अपना चमत्कार उत्पन्न करती है।

किन्तु नारी अभी भी पुरुष के लिए एक रहस्य है। संभवतः वह सदैव बनी रहेगी, कम से कम उतनी ही जितना कि पुरुष नारी के लिए है। हमारी सभ्यता ने काफी अंश तक हमारे सम्मिलन को दूर किया है और हमारी यौन विकृतियों को रूढ़ियों ने उभारा है। ऐसा ही चित्र राजेन ने उपस्थित किया है :

आज तुम्हारे यौवन-गिरि की
　　गहन अतल घाटी गह्वर में
पड़ा अकिंचन पुरुष चीखता
　　नारी ओ! विराट् मायाविन!
पार न पाऊँ हाथ उठाऊँ
　　आह निलय के ऊपर धाऊँ
अगन भुजाओं को उमड़ा भी
　　कैसे वह चंदा गह पाऊँ!
मृदुल उरोजों के वैभव से
　　केवल एक किरन है आती
आज पुरुष का अणु-अणु चेतन
　　उत्पादक उर्वर कर गाती—
झीनरोम द्युति के द्वारों से
　　चिर अपार सुषमा मुस्क्याती
उन अछोर गिरि के शिखरों पर
　　वह द्युति फूटी आती।
आज तुम्हारे रोम-रोम में
　　डूब अजाने पैठ अगम तक
अंधकार के अँतल सिंधु में
　　पा लेता वह लहर रश्मि कन।

पागल आलिंगन विभोर हो
रिक्त आह ! रोता फिर जगकर
आह, भुजों में शेष भार तन
दूर-दूर होतीं तुम द्युतिलय ।

—राजेन

कवि नारी की छवि को विराट् मायाविनी कहकर उसे अंक में समेट लेना चाहता है, किन्तु लगता है कि वह उसकी पूर्णता को समेट नहीं सकेगा । वह उसके उरोजों में से ज्योति की किरण छनते देखता है, जैसे मां के पयस्विनी स्वरूप की वह एक झलक प्राप्त कर रहा है । फिर उसके रोम-रोम में नवजीवन की शक्ति हुंकारती है । किन्तु अंधकार में प्रकाश प्राप्त करने की तृष्णा उसमें अतृप्ति भरती है । उसका मिलन कभी पूर्ण नहीं होता । नारी को वह अपने-आपमें कभी भी सीमित नहीं कर पाता । वह प्रकाश की भांति दूर होती हुई उसमें लय हो जाती है ।

यह वर्णन नारी को प्रस्तुत से अप्रस्तुत में परिवर्तित करके उसकी वास्तविकता को एक अरूप में बदलता चला जाता है । इसमें कैशोर्य का विभ्रम है । किन्तु बच्चन दूसरी ओर अपनी वासना को समाज के सामने उपस्थित करता है । वह नये स्वरों में कहता है :

पाप की ही गैल पर चलते हुए ये पाँव मेरे
हँस रहे हैं उन पगों पर जो बँधे हैं आज घर में !
हैं कुपथ पर पाँव मेरे आज दुनिया की नज़र में !!

×

मैं कहाँ हूँ और वह आदर्श मधुशाला कहाँ है !
विस्मरण दे जागरण के साथ, मधुबाला कहाँ है !
है कहाँ प्याला कि जो दे चिरतृषा चिरतृप्ति में भी !
जो डुबा तो ले मगर दे पार कर, हाला कहाँ है ?
देख भीगे होंठ मेरे और कुछ संदेह मत कर
रक्त मेरे ही हृदय का है लगा मेरे अधर में ।

×

वह विद्रोही है । वह बंधन को स्वीकार नहीं करता । दुनिया की नज़र में उसके पांव बुरे रास्ते पर हैं । किन्तु उसका आदर्श मधुशाला को ढूंढ़ना है । पर वह उसे मिलती ही कहां है ! उसकी अपनी वेदना को, उसके हृदय के रक्त को भी क्या संसार मदिरा समझ सकता है ?

राग के पीछे छिपा चीत्कार कह देगा किसी दिन,
हैं लिखे मधुगीत मैंने हो खड़े जीवन-समर में !

—बच्चन

उसे विश्वास है कि उसके समस्त राग के पीछे एक पीड़ित हृदय है । **चीत्कार**

है वह, किसी न किसी दिन वह फूट ही पड़ेगा। तब वह कहेगा कि जीवन के समर में खड़े होकर कवि ने यह मधु के गीत लिखे हैं, या मधुगीत लिखे हैं। मधु में श्लेष है। यह विद्रोह की मिठास भी है; जीवन की नई कल्पना की मिठास भी। इसका न कोई विभाजन है, न इसकी अनुभूति में कहीं रुकावट है। यह तो घोषणा है। बच्चन की अभिव्यक्ति जितनी स्पष्ट होती है वह अन्यत्र दुर्लभ ही कही जा सकती है। बच्चन शब्दों का पारखी है। वह सरल से सरल शब्द चुनता है और जैसे वह हृदय के मोड़ों को पहचानता है, जिनमें से वह भीतर घुसने का मार्ग जानता है। बच्चन की वासना कभी भी व्यक्ति की वासना नहीं रही, यद्यपि बच्चन ने सदैव व्यक्तिमूलक अभिव्यक्ति की है। उसका व्यक्ति सदैव प्रतिनिधि बनकर साहित्य में आया है और इसीलिए बच्चन अन्यों की तुलना में बिकता भी अधिक है। उसका प्रभाव बाद के कवियों पर काफी अंश तक पड़ा है:

> एक भूल, बैरिन बन बैठ गई है जनम जनम की
> इसीलिए हर साँस मनाती वर्षगाँठ मातम की,
> ऐसी वर्षगाँठ जिसका उपहार मौत सपनों की
> ऐसे उत्सव में न ज़रूरत होती है, अपनों की
> इतने दुखी दिये उजला भी दूँ निशि के आँचल में
> पर बेसुध भगवानों का विश्वास न कर पायेंगे,
> मेरे गीले गीत, तुम्हारी प्यास न हर पायेंगे।
>
> —मुकुटबिहारी सरोज

इस स्पष्टता के बड़े ठोस कारण रहे हैं। एक उसकी गेयता का प्राधान्य, दूसरा कवि-सम्मेलन में कविता सुनाना। सुमित्रानंदन पंत में गेयता उतनी नहीं जितनी नये कवियों में है। इसका मूल कारण श्रोता के प्रति सान्निध्य ही है। उर्दू काव्य की नकल करने से हिन्दी को श्रोता अवश्य अधिक मिले हैं। इससे एक लाभ भी हुआ है कि उर्दू की चमत्कारप्रियता हिन्दी का अपना अंग बन गई है। उक्ति-चातुर्य रीतिकालीन रचनाओं में भी मिलता है। किन्तु वह पैटर्न कृति है जब कि नयी हिन्दी कविता में वैविध्य है। महादेवी वर्मा में गेयता है, पर सहज स्पष्टता नहीं। नये कवि को वह मार्ग छोड़ना आवश्यक हो गया। नयी कविता में कवि के कण्ठ का इतना प्राधान्य है कि वह एक दोष की सीमा तक पहुंच गया है। मैंने स्वयं रामधारीसिंह 'दिनकर' को सुना है और वे अपनी जठराग्नि को प्रज्वलित कर देनेवाले ऐसे प्रचण्ड स्वर से कविता-पाठ करते हैं कि कुछ लोगों को मैंने स्वर-गांभीर्य पर ही उनको 'महाप्राण' कहते हुए भी सुना है। मैं दिनकर की कविता पर इस समय राय नहीं दे रहा हूं। बल्कि काव्य के नये आवश्यक अंग की ओर ध्यान दिला रहा हूं। जिससे सहज यश प्राप्त होता है। पहले हिन्दी में इसपर इतना ज़ोर नहीं दिया जाता था। किन्तु फिर भी यह कहना उचित नहीं होगा कि स्वर ही भाव पर प्राधान्य प्राप्त कर गया है।

नये कवि ने स्पष्ट ही छायावादी 'प्रियतम देववाद' का विरोध किया और स्पष्ट स्वरों में कहा :

हाँ प्रेम किया है, प्रेम किया है मैंने
वरदान समझ अभिशाप लिया है मैंने।
अपनी ममता को स्वयं डुबा कर उसमें
वर्जित मदिरा को देवि, पिया है मैंने।
मैं दीवाना तो भूल चुका अपने को
मैं ढूँढ़ रहा हूँ उस खोए सपने को
देकर मैं अपनी चाह आह लाया हूँ
प्राणों की बाजी हाय हार आया हूँ।
हैं कसक रहीं अब उर में बीती बातें
घिर आती हैं पीड़ा बन खोई रातें।
मेरे जीवन में धुंधला-सा सूनापन
है उमड़ पड़ा बन आँसू की बरसातें।

—भगवतीचरण वर्मा

उसने सीधे ही प्रियतमा से बातें प्रारंभ कर दीं। हमारे यहां तो अपनी स्त्री से भी सबके सामने बातें करना वर्जित था और कहां नया मोड़ ऐसा आया कि उसने बातें तो की हीं, कीं भी तो एकदम प्रेम की और उसकी भी घोषणा करते हुए। तरुण रक्त था, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नवीनता चाहता था। वह यूरोपीय संस्कृति के प्रभाव में आ रहा था। वह दांपत्य जीवन के नये मानदण्डों से परिचित हो रहा था, अपनी प्राचीन बहुकुटुम्ब-पालन करनेवाली व्यवस्था को खण्ड-खण्ड होते देख रहा था। तिस पर कवि उस समय राजनीतिक पराभव में था, अपने व्यक्तिगत जीवन में कुछ उसे मिला भी न था कि वह उसपर संतोष कर लेता। इसीलिए उसके प्रेम की अभिव्यक्ति एक झुंझलाहट बनकर भी हुई कि मैं दीवाना हूं, मेरे पास कुछ नहीं है, वैसे उसके पास फिर भी किन्हीं विगत स्वप्नों का भण्डार बाकी था, जिसका वह बार-बार हवाला दिया करता था। भगवतीचरण वर्मा, बच्चन और नरेन्द्र के ऐसे स्वर प्राय: समकालीन ही थे। प्रेम यहां मानो एक जुझारू शक्ति बनकर उतरा। उसमें तन्मयता उतनी नहीं थी, जितनी उत्कटता। व्यक्तिपरक असंतोष तीव्रतम था, किन्तु वस्तुत: वह युग का ही बिम्ब था, जिसका भी प्रतिनिधित्व वास्तव में मध्यवर्गीय युवक-वर्ग करता था। नारी के प्रति दृष्टिकोण बदलने लगा। अब वह नारी के प्रेम का याचक बना :

मैं जन्म जन्म का याचक हूँ,
तुम स्नेहमयी कल्याणी हो।
मैं अटल प्रेम का अभिलाषी
तुम 'मीरा-दरद-दिवानी' हो।

समझूँगा भाग्य खुले मेरे
तुमसे जीवन को ज्योति मिली।
संसृति का शाश्वत सत्य अहो
यह सुखद तुम्हारा आलम्बन !
तुम मिलीं मुझे वरदान मिला,
अवदान नियति का नित नूतन।

—क्षेमचंद्र सुमन

उसकी प्रिया भी प्रेम-दीवानी थी। थी या नहीं, यह तो उतना स्पष्ट नहीं होता, किन्तु प्रायः कवियों में इसका साक्ष्य मिल ही जाता है कि तड़पन इकतरफा नहीं, इश्क की दीवार अकेली नहीं खड़ी। बक़ौल मजाज़ के 'हदें वह बांध रखी थीं हरम के पासबानों ने कि बिना मुजरिम हुए पैग़ाम पहुँचाना मुश्किल हो रहा था।' उन दिनों जब ये कविताएं खुले आम सुनाई जाने लगीं तब एक ज्वार-सा आया था। ऐसा लगने लगा था कि कोई नया क्षितिज हिंदी में बड़ी ही शीघ्रता से खुलनेवाला है। उसका अन्त हुआ अचानक ही सामाजिक पक्षवाली कविता के युग में जिसने एकदम व्यक्ति और समाज-पक्ष के बीच में देखने-भर को दरार-सी डाल दी। यद्यपि आलोचकों का मत यह है कि ये प्रेम की कविताएं अधिक महत्त्व नहीं रखतीं, किन्तु मेरा विचार है कि ये कविताएं बड़ी ही सचाई से लिखी गई हैं और इनमें हमारे सांस्कृतिक विकास की एक पूरी मंज़िल छिपी हुई है। इसकी तो कभी उपेक्षा नहीं की जा सकती, इन कविताओं में एक ओर हृदय को छूने की शक्ति है तो दूसरी ओर चमत्कार भी उत्पन्न करने की शक्ति है। प्रायः हम उदासी से भरा हुआ एक भारालसित स्वर इनमें पाते हैं।

कवि की भावना सहज की ओर उन्मुख है। उसकी वेदना अव्याहत है और उसे जगत् में अपना सामंजस्य नहीं दिखाई देता :

मेरी पूजा के कोमल
फूलों को जाने
क्यों सब अंगार समझते हैं।

मैं नेह लुटा दूँ
सबके मन मन में
मेरे अन्तर् की
केवल साध यही
इसलिए मुझे सब
अपने - से लगते
इस दुनिया में
मेरा अपराध यही।

क्या से क्या यह
अकलंक चाँदनी-सा
सब मेरा पावन प्यार समझते हैं।
यह आँख उसीको
सुधि में भर आती
सब पावस का खिलवार समझते हैं।

—जगतप्रकाश चतुर्वेदी

पूजा के कोमल फूलों को जहां अंगार समझा जाता हो, वहां कवि क्या करे ? लेकिन यह कहना भूल है कि कवि क्योंकि अपने तक ही सीमित है, इसलिए औरों को उससे सहानुभूति होने की आवश्यकता भी नहीं है। वह तो सबके मन में स्नेह लुटा देने के लिए आतुर है। उसका अपराध केवल यही है कि उसे सब ही अपने-से लगते हैं। समाज बंधन बांधता है, जाति के, धन के, वर्ग के, और कवि इनमें से एक को भी स्वीकार नहीं करना चाहता। वह सारा प्यार जो व्यापक रूप से बिखरा है मूलतः है एक प्रेयसि के प्रति ही। उसीके लिए हृदय में कसक उठती है और आंखें बारम्बार छलछला आती हैं। प्रेमी का हृदय ही तो इतनी व्यापकता रखता है कि सबसे सम-व्यवहार करे क्योंकि प्रेमी का हृदय दुःख सहते-सहते इतना पक जाता है कि उसे सब-का दुःख अपना ही दुःख लगने लगता है। प्रायः भक्त कवि पहले प्रेम ही करते थे। भक्ति प्रेम का ही रूप-परिवर्तन था। आस्था के अनेक रूप हैं। वह न जाने किस स्पर्श से कौन-सी चेतना ग्रहण कर लेती है।

उसके हृदय में सहसा ही तो उसका उदय हुआ। पहले वह इतनी अनुभूति एकत्र नहीं कर सका था :

मिले नयन से नयन हृदय से हृदय मिल गया
टकराए इन तारों से यों तारे वे दो
विद्युत् ने कोना-कोना झकझोर दिया हो,
हृदय-हिमालय पाते ही आघात हिल गया।
लिया दृगों ने चित्र लगाया मन-मंदिर में
पूजा करने लगा पुजारी बनकर फिर मैं
अँधियारी थाली में जगमग दीप जल गया।
एक नीड़ से पक्षी आकर लगा चहकने
घूँघट खोल हँसी कलियाँ औ' लगीं महकने
मधुऋतु से मिलते ही यह उद्यान खिल गया।

—प्रेमप्रकाश गौतम

नयन से नयन मिले। हृदय से हृदय मिला। दृष्टि के मिलते ही बिजली-सी दौड़ गई। एकाकीपन का हिमालय जैसा हृदय भी उस दृष्टि के आघात से प्रकम्पित हो

उठा मानो सदियों की नींद टूट गई। हिमालय तो वह था ही। रस की गंगा बहते क्या देर लगती है। किन्तु फिर कवि का हृदय एक मन्दिर बन गया। वह पुजारी बनकर पूजा करने लगा। जहां पहले सूनेपन का अन्धकार था वहां दीप जलने लगा। कवि और भी नई उपमा प्रस्तुत करता है कि पहले वहां कोई नहीं था, किन्तु जब नीड़ से पक्षी आकर चहकने लगा तो कलियां घूंघट खोलकर हंसने लगीं, महकने लगीं। और जैसे मधु ऋतु के आगमन से उद्यान खिल जाता है, उसी प्रकार कवि के मानस में प्रिया के छवि-परिचय से अनेक वसन्त कुहुक उठे और आशा की कलियां खिलने लगीं, जीवन गन्धित हो गया।

इस प्रकार के वर्णन में क्या हमें जीवन की परिणय-सम्बन्धी भावनाओं के लिए नये प्रतीक नहीं मिलते? जगतप्रकाश की प्रिया गंगा-स्नान करने जाती है। वह गंगा से वरदान मांगती है। किन्तु कवि का मानस नये विचारों में बह रहा है। वह तो गंगा को ही बांध लेने की स्पर्धा रखता है। कहता है:

अपनी कोमल अंजलि में गंगाजल लेकर
तुमने भी वे पहले मूँदी होगी पल भर
फिर तरलत्रिवेणी से मुसकाकर मन-मन में
माँगा होगा कुछ मधुर-मधुर मनचाहा वर
मैं क्या माँगू पाहन के मौन देवता से
जिसने अनबोले पूजा सदा सही मेरी।
मैं एक लहर बन पाता तो गंगा से कह
सब पुण्य बाँध देता आ तेरे अंचल में
यमुना से जाकर फिर चुपके-चुपके कहता
कोई राधा आई है फिर तेरे जल में
पानी की एक बूँद से भी मैं अधिक विवश
मन की मन में ही सारी बात रही मेरी।

—जगतप्रकाश चतुर्वेदी

किन्तु अन्त में वह अपनी विवशता प्रकट करते हुए युग की वास्तविकता को पहचान लेता है और कहता है कि मेरी तो सारी बात मन की मन में ही रह गई। पुरुष की वासना सचमुच उसके स्वामित्व के अनुकूल निर्बाध नहीं है, वह तो बन्धनों में आबद्ध है, तभी उसका निराकरण करने की भावना अपना प्रतिकार मांगती है।

कवि कहता है कि वह सपनों में बह-बहकर आती है मानो उसके चित्र मलय के झकोरों के समान हैं, जो बहुत ही चंचल हैं। किन्तु वह नारी को समझ नहीं पाता। इतना जानता है कि मिटकर भी वह अभी तक मिट नहीं सकी है, वह अपनी सत्ता को पूर्णतया खो नहीं सकी है। कितने अंश तक यह नारी-चित्र कुलीन भावनाएं ही प्रतिबिम्बित करता है, यह तो स्पष्ट ही है, किन्तु वह नारी को युग-बन्दिनी ही

बनाकर नहीं देखता :

फिर प्राणों में रुदन भर गई
सपनों में बह-बहकर आकर !
एक मधुर रस पिघली रेखा,
महाकाल के महाकाश में
युग-युग मिटती आँसू-रेखा,
मिट-मिट कर भी मिट न सकीं तुम
तरल विधुर कातर छविवेषा !
तुम क्या हो, मैं समझ न पाया
मैं ही क्या हूँ, जान सका क्या,
चिर रहस्य दो बिन्दु मचलते
कौन अतल चिर साम्य निहित पा,
छि तड़पते परवश व्याकुल
धुल न सके तन-मन सुन्दर हँस
कौन तन्तु युग-युग जीवन के—
बाँध रहे प्राणों को कसकर
तुम न मिलीं पर अतल महानिधि
जीवन तारों से छहरा छवि
अपने अथक मौन निर्झर से
कर प्रगटी अब भी उर्वर कन
ओ जीवन के थोथे वैभव !
ओ ! प्रोज्ज्वल प्राणों के आश्रय !
तेरी उस शीतल छहरन में—
धधका यह विद्रोही यौवन !
विद्रोही तुम हो न सकीं पल
शक्ति मिटा युग-युग की दासिन
आह, त्याग की यह प्रवञ्चना !
छली गईं नर-पशु से शासित,
महा शक्ति जीवन की प्रेरा
जान सकेगी भावी नारी
महाप्राण के मुक्त निलय से
जो पुलकेगी हँस चन्दा सी !

फिर प्राणों में रुदन भर गई
सपनों में बह-बह के आकर
कब तक बहती ही जाओगी
ओ पगली तरला मायाविन !!

—राजेन

वह मानता है कि नारी ही युगांतर से पुरुष के जीवन को उर्वर करती रही है। वह मौन है किंतु फिर भी निर्झर के समान है। इस जीवन का वैभव थोथा है। तभी वह नारी से कहता है कि तू इस प्रोज्ज्वल जीवन का आश्रय है। असल में तो तेरी शीतल छहरन में ही विद्रोही यौवन धधका है। किंतु उसे लगता है कि नारी पल-भर भी तो विद्रोहिणी नहीं हो सकी। वह तो युग-युग की दासी है। उसने अपने-आपको छला है, छला है क्योंकि उसने त्याग की प्रवंचना में अपने भय को आश्रय दिया है और अपनी महानता कहकर अपनी कायरता को छिपाया है। क्यों नहीं वह विद्रोह कर उठती ? कवि को आक्रोश है कि नर-पशु ने इसपर शासन किया है। इसे सतीत्व का जामा पहनाकर इसको छला है। किंतु भावी नारी के प्रति कवि उदासीन नहीं है। वह उसे जीवन को प्रेरित करनेवाली महाशक्ति कहता है, कि भले ही आज नारी अवरुद्ध हो; वह कल अवश्य अपने को पहचान लेगी। वास्तव में पुरुष और नारी एक ही के दो प्रतिरूप हैं, उनका निलय एक ही है, वह महाप्राण है। किंतु अपनी यातना को फिर वर्तमान नारी सह कैसे लेती है ? और सहते हुए अपने मन में एक न्याय भी प्रस्तुत करती जाती है कि वह धर्म, संस्कार, मर्यादा और नियम के अनुसार कार्य कर रही है। कवि नहीं चाहता कि नारी अपने को इस प्रकार अपनी ही सीमा में घिरा रखे। उसे इसका दुःख इसलिए भी अधिक है कि भावी तो भावी है, उसकी वर्तमान वेदना तो उससे कोई मार्ग नहीं प्राप्त करती !

किंतु नारी को देखकर यही एक भाव उत्पन्न नहीं होता। केसरी की वंशी के प्रति जो उक्ति है वह नारी की पुरातन प्रेमाकृति को पहचानने का प्रयत्न करती है। यह नारी तप में लीन है। अपने को माध्यम बना चुकी है। उसमें एक वेदना है, जिसे कवि नहीं समझता। वह उसे ललकारता नहीं, उससे मनुहार करके पूछता है :

किस विरह की पीर से रहती भरी
बोल कुछ तो बोल प्यारी बाँसुरी।
बेधती हिय तीर-सी तेरी व्यथा
कौन-सी यह कसक कैसी दुख-कथा।
बज रही किसकी करुण स्वर-रागिनी
कौन-सा धन खो गया प्रिय-वादिनी।
ओ सुहागिन विश्व-अधरों की प्रिया
सींचती मधुधार से जग का हिया।

माधुरी यह धन्य जग जिसका वशी
एक तू ही विश्व में सखि ! उर्वशी।
फिर बता किस शोक से तू बावरी
बोल कुछ तो बोल प्यारी बाँसुरी।

—केसरी

जिस प्रकार राधा अभी तक कवि-मानस की प्रेम की माधुरी का सृजन करती है, कृष्ण की भुवनमोहिनी मुरलिका भी अपने दिव्य संगीत की साधना से तन्मयता का सृजन करती है। इसी प्रकार उर्वशी, जिसके अपरूप लावण्य में रवीन्द्रनाथ ने समुद्रों को बजते देखा था, कवि-मानस में रूप का सृजन करती है। महान की ये तीनों बिंबितावस्थाएं परम्परा से प्राप्त रूप की श्री को समन्वित करके नये युग के कवि में भी आराधना का स्वर जगाती हैं। इसीलिए कवि को नारी का पर्याय जब इनमें मिलता है तब वह आनन्द का अन्वेषण करता है। और उसके विपरीत उसे वेदना मिलने पर उसे समझ नहीं पाता। मानो नारी की सत्ता मूलतः वेदना ही है। उसमें पुरुष अपनी फूंक भर करके करुण रागिनी निकालता है जो नीरवता के दिगंतों में कल-निनाद प्रवाहित कर देती है। किन्तु उसके अपने मन को वह छू भी नहीं पाता।

वह चाहता है कि नारी उसके स्नेह का उत्तर अत्यन्त मुखरता से दे। चट्टान में भी सोता है, यह नारी क्यों नहीं देख पाती? उसके बन्धन ऐसे क्यों हैं? वह प्रकृति से नारी का तादात्म्य अधिक चाहता है, वह उसे अपनी रसरंगिणी के रूप में देखने को आकुल है:

मुस्कानों की लड़ी नयन के डोरे में तुमने गूँथी है,
यदि इन गीतों को भी गूँथो तो मैं जी भर तुम्हें सराहूँ !
गूँथो गीत अगाध सिंधु के मैं प्रमुदित होकर अवगाहूँ।
इन्द्रधनुष के गीत रँगीले पावस के रिमझिम के गायन
उड़ते छिपते गीत जुगनुओं के गूँथो कुछ और न चाहूँ।

—हरिश्चंद्रदेव वर्मा 'चातक'

किन्तु वास्तविकता न जुगनुओं से खेलती है, न सिंधु के प्रमुदित गीतों को अवगाहन करने का निमंत्रण देती है। न सही, किन्तु कवि तो उदास नहीं है। वह तो वैसे लिप्त नहीं है। उसकी अपनी वेदना ही उसे कब छोड़ती है जो वह अतिरिक्त कुछ कर सके:

छलछल करके छलक उठी नयनों की गागर
दीप आरती का वे लेकर कम्पित कर में
डगमग करते इन पाँवों से पूजाघर में
श्रद्धा के दो फल चढ़ाने जब पहुँचा था

नीरव राका के तम क्षण में यह सोचा था
कण-कण आँसू की बूँदों से भर दे सागर !

—नरेन्द्र पागल

वह तो श्रद्धा के फूल चढ़ाना चाहता है। किन्तु वेदना से ग्लपयितकण्ठ है वह। आंसू की बूंदों से सागर तक भरना चाहता है। यह सब वासना है, वासना जो पवित्र है, पवित्र है परन्तु आबद्ध है, बन्धनों में ग्रस्त है किन्तु स्वतन्त्रता का संग्राम छिड़ गया है, और कवि इसीलिए नये-नये आवाहन दे रहा है कि नारी ! आओ निकलकर आओ ! तुम जिन बन्धनों में बंधी हुई हो, वे तुम्हारे रास्ते को रोक नहीं सकेंगे।

गिरिजाकुमार माथुर, सजीली सुषमा का कवि, जो कभी-कभी बहुत मीठी कल्पना करता है, प्रिया के प्रति बहुत अनुरक्त रहता है। उसकी प्रिया कविप्रिया है, सहज प्रिया तो है वह, परन्तु साधारण नारी नहीं।

गिरिजाकुमार के शब्दों में संगीतात्मकता अधिक मिल जाती है। कभी-कभी केवल शब्दों का सौंदर्य ही भावों के अभाव को भी ढंक देता है। वह अपनी प्रिया के रूप-वर्णन को कभी अपने भावपक्ष से अलग करके नहीं देखता। निस्सन्देह उसकी नारी एक कुलीन युवती है, और बहुत ही कोमल कान्ता भी है।

'लोरी' में उसने सुनहली नींद का चित्रण किया है। जिसमें बड़ी सुकुमारता है। लोरी की दुहरती आवाज़ जैसे उसके पद-विन्यास में से धीरे-धीरे गूंजती है :

रेशम रंगभरी सुखनिंदिया आई
चाँदनी की पलकें हैं भारी
बोझल वायु, थकी उजियारी
दीप में नींद समाई।
बीच में खो गई बात की डोरी
नींद बुलाने में सो गई लोरी
प्यार ने आँख झुकाई।
गालों पै सो गये ठंडे से चुंबन
कोरों में सो रहा आँख का अंजन
मुख पर सोई ललाई।

—गिरिजाकुमार माथुर

कोरों में आंख का अंजन और गालों पर ठंडे-से चुंबन सो गए हैं। मिलन की छवि है, तृति की। इसमें आतुरता का प्रश्न ही कहां ? किन्तु यह तृप्ति हमें बहुत कम मिलती है। हम तो प्रायः असन्तोष के युग में हैं और हमारी अतृप्ति ही कभी-कभी हमारी कोमलताओं में उभार लाती है :

नित बुलायेंगी किसीको इंगितों से तरु-लताएं
शून्य में घिर-घिर झरेंगी धूल की धूमिल घटाएं
दिवस भर बजते रहेंगे रश्मियों के तप्त नूपुर
पर किधर उस मौन ऊषा का चरण होगा न जाने !
और क्षण कुछ शेष हैं फिर कब मिलन होगा न जाने !

—जगतप्रकाश चतुर्वेदी

रश्मियों के तप्त नूपुरों को बजानेवाला कवि अपनी वेदना में ऊषा को भी प्रिया में सन्निहित करके देख लेना चाहता है। काल-व्यवधान में यह परोक्षानुभूति अपनी एक विशेषता रखती है कि हम प्रकृति को अलगाव नहीं देते, उसे भीतर नियोजित करके देखते हैं। कैसी है वह तपोवनवासिनी शकुन्तला, जिसे तरु-लताएं इंगित करके बुलाएंगी ?

बच्चन में इतनी अधीरता है कि वह तो सीधी बात कहता है कि मेरा स्वत्व मुझे दो। वह अपहरण की प्रवृत्ति में तो नहीं गया किंतु निश्चय ही वह उसकी स्वीकृति चाह रहा है जिसे 'आज' का अधिकार देने में भी इतना सोचना पड़ रहा है।

प्राण, कह दो, आज तुम मेरे लिये हो।
मैं जगत के ताप से डरता नहीं अब,
मैं समय के शाप से डरता नहीं अब,
आज कुंतल छाँह मुझपर तुम किए हो।
रात मेरी, रात का शृङ्गार मेरा,
आज आधे विश्व से अभिसार मेरा,
तुम मुझे अधिकार अधरों पर दिए हो।

—बच्चन

इसे क्या परकीया प्रेम कहना उचित होगा ? मेरी राय में ऐसा नहीं है। क्योंकि अधिकार आगे मिलते रहने की आशा नहीं है, कवि 'आज' कहकर अपनी बहुत दिनों की अवरुद्ध वासना को इस क्षण में ही लीन कर लेता है। और इस प्रकार अपने अनुरोध में बल पैदा करता है। नारी कितनी बड़ी शक्ति है कि उसके बालों की छाया में पुरुष न जग के ताप से डरता है, न समय के शाप से। आज इस मिलन में मानो आधे संसार से वह मिल रहा है। क्योंकि बाकी आधा तो वह स्वयं है। पुरुष की अभिव्यक्ति स्पष्ट है। उसे अब अप्रस्तुत विधान की आवश्यकता नहीं, अधरों का अधिकार पाकर भी वह घोषणा न करे, ऐसा निर्बल तो सचमुच वह नहीं ही है :

प्यार के पल में जलन भी तो मधुर है
प्यार के पथ की थकन भी तो मधुर है।
आग ने मानी न बाधा शैल वन की
गल रही भुजपाश में दीवार तन की

प्यार के दर पर दहन भी तो मधुर है।
प्यार के शर का मरण भी तो मधुर है।
तृप्ति क्या होगी अधर के रसकणों से
खींचती तुम प्राण ही इन चुंबनों से
प्यार के क्षण में मरण भी तो मधुर है।

—बच्चन

प्यार का क्षण मिला है। इस क्षण से बढ़कर कुछ भी उसके सामने नहीं है।

इस क्षण की महत्ता को हम अन्यत्र भी देखते हैं। शायद वह क्षण होता ही ऐसा होगा क्योंकि सब ही कहते हैं :

पलकें नीचे गिरीं, आंख में कहाँ ढिठाई
तब तक आ पायी थी, रोम रोम ही मानो
आँख बन गया, सिहरन से लहराया, दोनों
से किसके यह हर्ष भरा था, और मिठाई
पग में पाग उठी थी, मेरी और तुम्हारी
दो दुनियाँ हो गई एक थीं, कोयल बोली
और पपीहा चीखा, फेरी यों ही होली
प्राणों की छवि अपने आप उतारी।
हमने अपनी-अपनी आँखों में, यह ऐसे,
हुआ कि जान न पड़ा, मगर जब आगे आया
तब मालूम हुआ कि आज ही सब कुछ पाया
एक निमिष में, निमिष बन गया सतयुग जैसे
चुपके-चुपके प्राणों की वह अदला-बदली,
भीतर-बाहर छायी इन्द्रधनुष की बदली।

—त्रिलोचन शास्त्री

यह तो 'थोरी बैस' की बात है जबकि आंखों की ढिठाई भी प्रारंभ नहीं हुई। तभी तो रामविलास शर्मा ने कहा है :

प्रेम का प्रथम अपरिचित स्वाद
कहीं जिसमें न गरल का लेश
और जो नहीं छोड़ता दाग़
कालिमा का भी तन पर शेष
पुण्य-जड़िमा यह दूर उतार
रूप को देगा और निखार।

कीट्स कहा करता था कि शायद सूखे ठूंठ को अपनी हरियाली याद नहीं आती, लेकिन उसने पुरुष के बारे में थोड़े ही कहा था ! रामविलास शर्मा ने कहा है :

पीड़ा को उसकी प्रकृति भूल
दुख को भी सुख-सा मधुर मान
मैं हृदय लगाता बार-बार
तेरा कोई उपहार जान।

इस कवि का प्यार तो तब प्रारम्भ हुआ था जब जग के प्राण उदर में छिपा-कर आकाश सो रहा था और भावी सृष्टि का चरम विकास उसीमें लयमान था।

भारतीय पौरुष एक ओर प्रेमी है, दूसरी ओर बड़ा वेदांती भी है।

यद्यपि आसक्ति और अनासक्ति का यह द्वन्द्व वैसे तो भारतीय चिंतन में बहुत प्राचीन है, किन्तु वहां हमें एक ही साथ दोनों स्वर चलते कम ही दिखाई देते हैं। इड़ा-पिंगला की गतियों का बंद होकर सुषम्ना नाड़ी में समा जाना तो नये युग में ही अधिक मिलता है। मनुष्य अब अपने को जितना अकेला पाता है उतना शायद पहले नहीं :

इसीलिए खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो !
ज़मीन है न बोलती न आसमान बोलता
जहान देखकर मुझे नहीं जबान खोलता
नहीं जगह कहीं जहाँ न अजनबी गिना गया
कहाँ कहाँ न फिर चुका, दिमाग़ दिल टटोलता
कहाँ मनुष्य है कि जो उमीद छोड़ कर जिया
इसीलिये अड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो।
कहाँ मनुष्य है जिसे कमी खली न प्यार की
इसीलिए खड़ा रहा कि तुम मुझे दुलार लो !

—बच्चन

प्रतीक्षा अकारण नहीं है, सीधी-सादी बात है कि मनुष्य को प्यार की कमी खलने लगी है। क्यों ? क्योंकि उसके सारे मानदण्ड हिल गए हैं। नया कुटुम्ब अन्य कर्तव्यों और मर्यादाओं को तो छोड़ चुका है, दाम्पत्य जीवन के सहवास की तीव्रता मध्यवर्गीय यूरोपीय संस्कृति ने अब बहुत अधिक लाद दी है। तभी वह कहता है :

क्यों पिलाते हो बार बार मुझे
गिर गया तो सँभाल भी लोगे ?
क्यों डुबाते हो बार बार मुझे
बह गया तो निकाल भी लोगे ?
क्यों बुलाते हो बार बार मुझे
खो गया तो पुकार भी लोगे ?

—ब्रजमोहन

सचमुच जितनी तेज़ी से युग बदल रहा है, कवि उससे अपना सामंजस्य नहीं

बिठा पाता। उसके सामाजिक और पारिवारिक आकर्षणों का नाश जिस नई ओर खींचे लिए जा रहा है, वहां अभी उसकी छत को संभाल लेने वाले स्तंभों ने सिर नहीं उठाया है। तभी वह कहता है कि मुझे उबार लेने की शक्ति भी तुममें है या नहीं ?

नारी पर इतना अधिक उत्तरदायित्व आ पड़ा है कि नारी की स्तुति करना आवश्यक-सा जान पड़ने लगा है।

नारी जो अपने इंद्रजाल का सम्मोहन फैलाए हुए है, क्या वह जानती है कि उसका असर क्या है? पुरुष की विह्वलता शताब्दियों से उसके हाथ अपने को भुला देने-वाली मदिरा पीती चली आ रही है। लेकिन ऐसा क्यों ? नारी को भी वही प्रतिकार क्यों न मिले ? वह चेतना को छीनती है तो छीने ! परंतु क्या पुरुष से उसका इतना ही संबंध है ? वह तो चुप ही रहती है ! क्यों रहती है वह ऐसी ? वह क्यों नहीं बोलती :

आज साक़ी को पिला दी जायगी,
बस यही उसको सजा दी जायगी।
मौन साक़ी को बनाना है मुखर,
वेदना उसकी हिला दी जायगी।
क्या कहा साक़ी ! कि मैं बेहोश हूं,
होश की तुझको दवा दी जायगी।
आग अंतर में दबी जो प्यार की,
आज फिर उसको दवा दी जायगी।
तुम पियो, बातें करो, खोलो हृदय,
नेह की सरिता बहा दी जायगी।

—देवराज 'दिनेश'

उसकी वेदना को हिलाना होगा। उसे स्वयं अपने इंद्रजाल को पीना पड़ेगा। ताकि उसका मौन टूटे, वह मुखर हो जाए। अब तक जो आग अंतर में दबी हुई थी, उसे हवा कर-करके बढ़ाया जाएगा। अब वे दिन गए जब 'रई' कहकर ही संतोष हो जाता है। अब तो :

बजी चरण ध्वनि तेरी।
मेरी रागिनि उमड़ पड़ी है मीड़ मूर्च्छना चेरी,
चिर उत्सुक मन प्यास मिटाता,
पागल बन मधु अलख जगाता,
ध्वनि ध्वनि से टकरा जाती है माया ने दृग फेरी,
मर्म निर्झरी नयन द्वार से प्रगटी आशा मेरी।

—अवधेन्द्रदेव नारायण

आंसू जब इतना तत्पर है तो फिर पुरुष और नारी में इतना भेद ही कहां है !

यह तो समानाधिकार का युग है। जीवन यदि नशा है तो नशा ही सही। किंतु उसकी झूम में एक आनंद तो हो, विभोरतम विह्वलता तो हो। यह क्या कि आनंद का उद्वेग भी एकांगी ही बना रह जाए और अपनी पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सके।

किंतु पराधीन कवि की विवशता भयभीत रहती है। वह यौवन के रस को पीते हुए डरता है :

मत पिलाओ, मत पिलाओ !
आह से सींची हुई वह,
साँस से खींची हुई वह,
मधुर मधु की प्यालियाँ मैं पी चुका हूँ,
तुम हलाहल मत पिलाओ, मत पिलाओ !
क्या कहा, यह भी पियो तुम !
और फिर पीकर जियो तुम !
पर यहाँ सुधबुध गँवाये, अमर रस को पी चुका हूँ,
तुम हलाहल मत पिलाओ, मत पिलाओ ![1]

पर्वत भी कभी-कभी पांव की नदी से डर सकता है, इसे कौन समझ सकता है। वैसे तो समझता है क्योंकि असल में अब प्यासा वह रहा नहीं है, वह तो अमर रस को पी चुका है। हलाहल से डरता है, तो यह उसका विवेक ही कहा जाएगा! किंतु जिसकी प्यास ही अभी अतृप्त रह गई हो वह क्या करे? नहीं पीता तो याद जलाने लगती है। तो यह पीना अपने को भूल जाने के लिए है, एक प्रकार से दबाव डालना है :

तुम बुझाओ प्यास मेरी
या जलाए फिर तुम्हारी याद।
कम अधर कम कंठ में पर प्राण में जो निर्नियंत्रित आग,
एक है मालूम तुमको जो रही है वह सदा से माँग,
होंठ भीगे हों, हृदय हो, किंतु मरु की शुष्क, सूनी आह,
क्या बनूँगा आज अपना ही स्वयं दयनीय मैं अपवाद।

—बच्चन

यह तो प्राणों की आग है और इसपर किसी प्रकार का नियंत्रण भी नहीं है। कवि पूछता है कि क्या आज मैं स्वयं अपना ही दयनीय अपवाद बन जाऊंगा? कितनी अस्थिर भविष्य की बात है। ऐसे में यही तो हो सकता है कि सदा की मांग बनी रहे।

किंतु यह तो तब की बात हुई जब प्रेम अपने प्रारंभिक संयोग-पक्ष के आगे बढ़ चुका है। नारी का शारीरिक रूप हमें संयोग-पक्ष में अधिक सुंदर बनकर परिलक्षित होता है।

१. इकबाल कौल—पीड़ा

वे चित्र जो स्मरणपरक नहीं, परंतु किसी याद के विशेष चित्र को प्रस्तुत करते हैं, सदैव सजीव-से लगते हैं। उनमें जो विशेषता होती है वह उनके भीतर व्याप्त होनेवाली मस्ती में से प्रकट होती है, चाहे फिर उसमें कितनी भी तड़पन क्यों न निहित रहती हो :

रूप की पूनम बसी थी
आँख के आकाश में
मैं बँधा था दो गुलाबी
बाहुओं के पाश में,
इन्दु को लखकर उठा जो
ज्वार उर के सिंधु में,
हाय ! सारी रात लहराया
सबेरे ढल गया !
चाँद सारी रात मुस्काया
सबेरे ढल गया !
स्वप्न सहसा तोड़ डाला
भैरवी की तान ने,
ली बिदा मुख से तुम्हारी
रेशमी मुस्कान ने,
ओस का मोती कली के
मखमली-से गाल पर
जो कि सारी रात इठलाया,
सबेरे ढल गया।

—रामकुमार चतुर्वेदी

चांद यहां प्रेम, वासना, सौंदर्य और तन्मयता का भी प्रतिनिधित्व करता है। भैरवी की तान भी इस क्षण अच्छी नहीं लगती, क्योंकि वह अनंत हो गई रात्रि का अंत कर देती है। श्रीकृष्ण की जो छः महीने की पूर्णिमा का रहस्य था, वह अब समझ में आया। उसमें भी तो अखण्ड रास हुआ था। गोपियां अपने को भूल गई थीं। मुरली बजती रही थी। फिर गुलाबी बाहुओं का पाश क्या कम आकर्षक है जो कवि उसका उल्लेख न करे ! मुस्कान जहां रेशमी है वहां की स्निग्धता का क्या अंत ! रीति-काल के कवियों ने कब रेशमी मुस्कान देखी थी। कुछ ऐसे प्रयोग अवश्य ही अंगरेज़ी साहित्य से आए हैं, रूसी साहित्य से नहीं। वहां मुस्कानों में इतनी मिश्री अब नहीं घोली जाती। पुरुष की वासना यदि अपने दृष्टिकोण को आगे की ओर बढ़ने की ओर संकेत करती है तो उसमें हानि भी क्या है ? हानि तो है, क्योंकि उसमें कहीं-कहीं एकाकीपन का घुन लगा रहता है :

गीत पथ के गा रहा हूँ !
देखकर चलता सम्हलता
कंटकों में कब उलझता
मंजिलों पर मंजिलें मैं
पार करता आ रहा हूँ !
गीत पथ के गा रहा हूँ !
आज मन में वह लगन है,
सिंधु भी जिसमें मगन है,
पत्थरों को मैं कुचल
कंटक दलन कर आ रहा हूँ,
गीत पथ के गा रहा हूँ।
आज पहुँचा द्वार तेरे
शांति दिल में पर न मेरे
मैं स्वयं की आस का
उपहास बनता जा रहा हूँ,
गीत पथ के गा रहा हूँ।[1]

यह घुन उसे भीतर ही भीतर कचोटता है। दुखी तो वह संसार में प्राप्त अनेक विफलताओं के कारण है, उन सबकी सुलझन ढूंढ़ता है वह थका-हारा आकर अपनी प्रेयसी के द्वार पर ! सीधी बात है कि यों काम नहीं चलता। वह चाहे इससे कितना ही असंतुष्ट क्यों न हो ले ! तभी वह उलाहने देता है :

तुम्हारे मौन का मैं अर्थ क्या समझूँ ?
कि तुम पाषाण से भी बढ़ गये दो-चार डग आगे !
भला पाषाण है तुमसे कि जो इंसान के आड़े समय पर काम आ जाये
जो रख ले लाज पूजा की स्वयं भगवान बन जाये—

—राही

किंतु पुरुष इस एकांत उपालंभ में यह भी सोचता है कि नारी अतिमानवी नहीं है। क्या है जिसने उसे पाषाण से भी दो-चार डग आगे का मौन स्वीकार करने को बाध्य कर दिया है ! पत्थर अपने-आप भगवान कब बना है ? उसे तो भगवान बनाया गया है और उसने इसे भी चुपचाप स्वीकार कर लिया है !

प्रेमियों ने अपनी कामार्त्तावस्था में चेतन और अचेतन में कृपण प्रकृति को सदैव प्रदर्शित किया है। इस युग में भी वह मेघ की ओर देखकर अंतस् में वाष्प भर-कर लंबी सांस भरता है और कहता है कि हे मेघ ! तू तो पुरुष की वेदना समझने-वाला पुरातन साथी है :

१. इक़बाल कौल—पीड़ा

सौंपकर निश्वास तेरे हाथ में
और अपनी कल्पना कर साथ में,
भर दिया तुमको पराए क्लेश से
विरह-व्याकुल यक्ष के सन्देश से—
कवि श्रेष्ठ ने भीतर हृदय के पैठ !
दिन एक उज्जयिनी पुरी में बैठ !

इसीलिए मैं तुझसे अब अपनी यात्रा सुनाने में तल्लीन हूं :

और उस दिन से अभी तक, मेघ,
ले अपरिचित के लिये संवेदना
पंक्ति तेरी खिन्नचित, आकुलमना,
रामगिरि की चोटियों पर घूमती,
यक्षिणी के पास चलती, चूमती—
कर रही है शोक का अभिषेक,
ठीक उस दिन से अभी तक मेघ

अपरिचित के प्रति संवेदना को कालिदास ने तो मेघ को बंधु बनाकर महत्त्व नहीं दिया था, किंतु नया कवि उसे अपने इतने निकट नहीं ले आ पाता :

और तब से यक्ष के हे मीत,
जो अपेक्षाकृत दुखी जितना रहा,
खोलकर तुमने हृदय उतना कहा,
आज मैं भी यक्ष-सा परितप्त हूँ,
वेदना पाले हुए अभिशप्त हूँ,
आज मैं समझा तुम्हारा गीत
यक्ष के हे पूर्व परिचित मीत !

—भवानीप्रसाद मिश्र

इस मेघदूत से नया कवि केवल प्रेम की ही भीख नहीं मांग रहा है कि मेरा संदेश ले जा। वह तो अपेक्षाकृत जो जितना दुखी है, उसके प्रति मेघ की उतनी ही 'अपेक्षा' चाह रहा है। आज वह भी यक्ष-सा ही तो परितप्त है, वेदना उसने भी पाल रखी है, अभिशप्त वह भी है, और आज ही वास्तव में उसकी समझ में आया है कि वेदना प्रेम की टीस से ही जन्म लेती है। यह तो छायावादी युग ने ही प्रमाणित करने की चेष्टा की थी कि वेदना ही काव्य का मूल है।

प्रेमी हृदय ने प्रेम की क्रियाओं के ऐसे नये-नये चित्र उपस्थित किए हैं कि वे क्षण-भर रोक लेते हैं :

'अपनी तन्वंगी नृत्यशील चंपई अंगुलियों से
मत मेरे जीवन की जर्जर रस्सी बाँटो।

जाने कितनी गाँठों से बँध-बँध एक हुई
दुनिया के क्रूर करों में पड़ बेमेल हुई
प्रिय हँसी-हँसी में जोड़ रही हो जो नाता
अमधुर है पर यह सत्य अजाने भूल रहीं
टुकड़े-टुकड़े कर डाले जिसके छलना ने
मत पानी भरी निगाहों से उसको बाँधो···
मत मेरे जीवन की जर्जर रस्सी बाँटो।
मत सीमित आँसू से तन की मिट्टी रौंदो···
क्यों गूढ़ तमस् बन आसपास मँडराती हो,
बुझ गया प्यार की पहली बढ़ती संध्या में
जल ओर-छोर पर हृदय-दीप, लख पाती हो,
मत मेरे जीवन की जर्जर रस्सी बाँटो।

—शिवनारायण सिंह 'सुयोगी'

चंपई उंगलियां जीवन की जर्जर रस्सी बंटती हैं, और जीवन की रस्सी है कि गांठों से भरी पड़ी है। लोग विरोधी हैं। संसार बड़ा क्रूर है। इस विषमता में यह प्रेम का पनीला बंधन और आ गया है। तन की मिट्टी को सीमित आंसू के जल से रौंदकर नई प्रतिमा को गढ़ने का यत्न ही निष्फल है। वह काम तो विधाता का था! किन्तु प्रेम क्या सस्ते छूटता है! मनुष्य की निर्ममता भी क्या उसके प्रेम का आधार नहीं बन जाती?

मेरी क्या वेदना यहाँ है असिधारों पर चलने वाले,
अरे शमा पर परवाने वे हाँ अलमस्त मचलने वाले,
चुपके, घाव लिये एकाकी, यहाँ बिलखने वाले भी हैं
प्राण-प्रियों की चिता जलाकर जीवन रखने वाले भी हैं
फिर क्या अपना भाग नहीं होगा मुझको स्वीकार
आत्मा की संगिनी! प्राण-मन सह लेंगे दुख भार!

—प्रयाग नारायण त्रिपाठी

एक सीमा तक लोच रहती है, उसके समाप्त हो जाने पर मन सबको भूलने की चेष्टा करता है और अपने पुराने जीवन की स्मृति में ही लगा रह जाता है। आत्मा की संगिनी को यह कवि बताता है कि जीवन बड़ा दुर्धर्ष है, कितनी भी विपत्ति क्यों न आ जाए, मनुष्य को तो सहना ही पड़ता है! वह अपने प्रिय से प्रिय की चिता स्वयं जलाता है और फिर भी जीवन को ढोता है। ढोता है क्योंकि ढोना पड़ता है।

इस लंबे भारवहन में कहीं तो सांत्वना होनी ही चाहिए। सांत्वना कैसे हो सकती है, जब सब कुछ नश्वर है, बदल रहा है! क्या वह केवल दिल बहलाव ही नहीं है? भारतीय चिंतन में जो नश्वरता का भय है, आतंक है, वह कितना अधिक रमा

हुआ है कि हम हंसते-हंसते एक अनागत की याद में ही गंभीर हो जाते हैं :

सुधियों ने पाया तुम-सा आवास
स्मृतिविहंग निस्पन्द न होने पाया
वाणी ने भावों को दी अक्षय काया
उड़ सके न नभ में यों विचार यायावर
गा सकी तभी भावुकता तब गीत स्वर
अंतर्मन ने कुछ क्षण को किया प्रवास।
दर्पण-सा स्वच्छ परावर्तक अन्तर्मन
प्रतिपल नाना सुधि बिंबों का अभिनर्तन
उन मधुर क्षणों की बसी छाँह गीतों पर
क्षण भर जीवन को तुम कह सकते नश्वर
मेरे गीतों में शाश्वत करे निवास।
उड़ते-उड़ते ही होता साँझ सवेरा
आभारी हूँ, तुमने दे दिया बसेरा
क्षण वा जीवन भर, मुझको बहुत न अन्तर
होंगे वासित क्षण भर से युग मन्वन्तर
सुधियों को शाश्वत क्षण का सहवास
सुधियों ने पाया तुम सा आवास।

—विपिनचंद्र चतुर्वेदी

फिर भी यात्रा यात्रा ही नहीं है। जो असीमा है उसमें पुरुष अपने लिए दायरे खींचता ही है, क्योंकि उसके दो रूप हैं। वह समाज का व्यक्ति तो है, परंतु एक क्षण व्यक्ति भी है। उसका व्यक्ति अपने लिए अलग सुख भी चाहता है। उस सुख की मर्यादा क्या है ? वह है उसके देह की आवश्यकता। मांस और रक्त की स्पंदित गतिशीलता उसकी इकाई का आभास कराती है, उसे अपनी सत्ता की रोचकता का आभास कराती है। और अपनी कुछ दिन की सत्ता को वह पूर्णतया अनुभव कर लेना चाहता है तभी कहता है कि क्षण या जीवन-भर का मुझको बहुत अंतर नहीं मालूम देता, क्योंकि क्षण-भर से ही तो युग और मन्वन्तर वासित होते हैं। जीवन क्षणभंगुर हो सकता है, किंतु क्या उसका गीत भी ऐसा ही क्षणिक हो सकता है ? गीत तो भावना का प्रतीक है, और प्रतीक की प्रेषणीयता क्या शाश्वत बनकर नहीं रह सकती ? परावर्तक अंतर्मन दर्पण का सा स्वच्छ है, उसमें नाना प्रकार की सुधियों का बिंब अभिनर्तन किया करता है। क्योंकि जीवन के सार्थक क्षण ही गीतों में उभरकर आते हैं, इसलिए उन क्षणों का मूल्य मनुष्य के लिए स्थायी महत्त्व रखता है। कवि ने अनजाने ही काव्य के मूला-धारों के प्रश्न को छुआ है और वह उसे सुलझाने में सफल भी हुआ है। यह जीवन क्यों मिला है आखिर ? —यह समस्या भला कोई सुलझा सका है ! कवि कहता है :

अरे गीत गाओ
गगन से धरा तक बही ज्योति-गंगा
नहाओ, नहाओ !
अरे प्यार के हेतु जीवन मिला है
अकिंचन मनुज को हृदय-धन मिला है,
सदा प्रेम बाँटो, सदा रस उलीचो,
नयन-वारि से प्रेम का मार्ग सींचो,
अरे प्रेम-गंगा जगत में बहाओ,
स्वयं प्रीति पाओ !

—नर्मदाप्रसाद खरे

यह है जीवन का नया सत्य । प्रेम के लिए है यह जीवन ! यह तो खैर ठीक ही है । भरत मुनि के अनुयायी 'रति' कहते हैं, चंडीदास 'प्रेम' कहते थे, सो नया कवि तो प्रेम और रति को एक मानता है और कहता है :

प्राण बने आज एक गान तुम्हें छलने को ।
छविमयी छाया में भरमाया मैंने तुम्हें,
स्वप्न एक सत्य बनाया मैंने तुम्हें,
गान एक गाया मैंने आज तुम्हें छलने को ।

×

मौनवसना श्वेत मृत्यु आह्वान में,
एक ध्यान में बँधे प्रेम-निर्वाण में,
प्राण बने आज एक गान तुम्हें छलने को।

—शमशेर बहादुर सिंह

मृत्यु श्वेत है, मौन ही उसका वसन है, उसे आह्वान दिया गया है और प्राण एक ध्यान में बंध गए हैं, क्योंकि प्रेम के निर्वाण में उनकी निरति हो रही है । इसी-लिए प्राण एक गान बन गए हैं, क्योंकि प्राण का सार्थक क्षण भावातिरेक का उल्लास-भरा गीत है । प्रिया की नश्वरता को अलग करने के लिए उस गीत से उसे रिझाया जा रहा है, ताकि उसमें से नश्वरता का आतंक दूर हो सके । यह छलना तो प्यार-भरी है । इसमें कोई कलुषित छाया नहीं है । इसीको कवि जब अपने रूप-वर्णन में बंधना चाहता है, तो उसे नारी का रूप सारी सृष्टि में बिखरा हुआ दिखाई देता है :

मृदु केश में आषाढ़ की पहली घटाओं से सघन
मधु वृष्टि की आशा बँधाते पर बढ़ाते हैं तपन !
यह मुख कि जैसे चाँद-सूरज की छटा का सार ले ।
विधि ने बनाया है निखिल मधुमास का शृंगार ले !

यह देह जैसे, ओस मधु, फूलों-भरी चंचल लता
यह गति कि जैसे मंद सौरभ से भरा पवमान हो !
कैसे कहूँ अनजान हो !
ये दो नयन, जैसे कि सारी सृष्टि का जादू लिये
हों दो कमल की पँखुरियों में जल रहे छवि के दिये !
यौवन कि जैसे देह धर आई शरद की चांदनी
लज्जा कि जैसे मेघ में लिपटी हुई सौदामिनी
मस्ती कि ज्यों हरिताभ वन में दूधिया झरना बहे
वाणी कि बौरे झुरमुटों में कोकिला की तान हो !
कैसे कहूँ अनजान हो !

—रामकुमार चतुर्वेदी

उद्दीपन साथ है, रूप की सुलगन बढ़ती है; और कवि उस रूप-माधुरी को अनजान नहीं मानता। अवश्य ही रूप को अपने सौन्दर्य का आभास रहता है, क्योंकि जो स्वयं आकर्षण का केन्द्र है वह क्या अपनी शक्ति से अनजान रह सकेगा ! प्रेम क्या मन की अनुभूति के अतिरिक्त कुछ और है ? नहीं, वह तो तन्मयता है, एकरसता है। जो कुछ बदल रहा है उसका आतंक इसीलिए है कि तन्मयता का अभाव है। कवि कहता है :

मैं और किसी पर क्यों रीझूँ
करता हूँ प्यार तुम्हें केवल
क्या मेरा ध्यान बँटा सकती
इस नश्वर दुनिया की हलचल?
मत टूटें मेरे स्वप्न कभी
निष्ठुर पतझड़ की मारों से
निज पथ से विचलित हुआ नहीं
तिल भर तू की फटकारों से।
जब बाँध पँखुरियों में लेती
नलिनी मधु का साँवला चोर
तब शरद चाँदनी में बैठा
मैं बालू पर सुधि से विभोर
तुम हो उदार मेरे उपास्य
मैं दास तुम्हारा हूँ निश्छल।

—विनयकुमार

यह तन्मयता नारी-रूप से प्रारंभ होकर देवत्व को ग्रहण करने चेष्टा करती है। मन में दास्य भाव जन्म लेता है। क्यों ? क्योंकि जब लघुता दयनीयता की ओर प्रेरणा

देती है तब असहायावस्था सदैव पूजा की ओर अग्रसर करती है। अब नारी का रूप निखिल चेतना में परिवर्तित हो गया है और 'तू' की फटकार विचलित करने में असमर्थ हो गई है, एकता का अवगाहन अपने-आपमें गहिर-गंभीर है। विनयकुमार में मांसलता नहीं है, परंतु रीझ है। उसकी रीझ प्रकृति के बड़े लुके-छिपे चित्र भी उपस्थित करती है।

नारी भी पुरुष-भाव में कभी-कभी अपनी अनुभूति करती है। ऐसा जब होता है तब पुरुष उसे लजीला-सा दिखाई देता है और वह स्वयं अपने हृदय को न्यौछावर करती हुई बढ़ती है। किसी सीमा तक स्त्री का पुरुष संबोधन करना, फारसी-पद्धति का प्रभाव भी है, सामाजिक विकास में स्वतंत्र कथन पर बंधनों के कारण जन्म लेता है। यह बड़ी अजीब कसकन है। स्त्री के लिए तो पुरुष बनना तनिक कठिन ही होता है। क्योंकि वह अपने दर्द की आहों को बड़ी तीव्रता से अनुभव करती है। उसके आंसू बहुत धोखा दे जाते हैं :

तुम किसी से यह बात मत कहना
कोई तुम्हारी दाह में जल रहा है!
नयन में तुम्हारे सपने सजाकर
अश्रु में किसी के प्राण गल रहे हैं
बूँद बूँद पर चिर प्यास की कहनी
लेकर किसी के साँस चल रहे हैं!
तुम किसी से यह बात मत कहना
कोई तुम्हारी चाह में गल रहा है!
प्राण में तुम्हारी सुधियाँ बसा कर
आज तक किसी के गीत रो रहे हैं
गीत के गीले स्वरों पर किसी की
पीड़ा मचलती, स्वप्न सो रहे हैं!
तुम किसी से यह बात मत कहना
कोई तुम्हारी थाह में छल रहा है!
तुम्हारे निठुर प्यार की साधना में
किसी के हृदय की करुणा मचलती
पग तो थके बार-बार पंथ में, पर
किसी की विकल चाहना नित्य चलती,
तुम किसी से यह बात मत कहना
कोई तुम्हारी राह में चल रहा है।

—कुसुमकुमारी सिन्हा

याद में रुकना तो इस कवयित्री ने भी नहीं सीखा। चलना बराबर जारी है।

प्यार है निष्ठुर ! की तो उसकी साधना ! क्यों न करुणा मचले उसपर ! बार-बार ऐसे पंथ में पांव तो थके, किंतु विकल चाहना ने कब रुकने दिया ?

इस स्नेह का कोई अंत नहीं है। क्या हम इसे यों समझें कि इतने सामाजिक बंधनों के कारण ही यह बात पैदा होती है ? नहीं, ऐसा नहीं है। यौवन की भी तो अपनी बात है, अपना महत्त्व है। उसके आगमन में जिन्होंने वसंत देखा, वे क्या फिर चुप रहेंगे ! आखिर इन कविताओं के लिखनेवाले ऐसे कौन-से संपन्न लोग हैं ? प्रायः मध्यवर्ग के हैं ये लोग और वे भी विचारे निम्नमध्यवर्गीय ! जीवन में उनके बड़ी कशमकश है। परन्तु धरती पर पांव रखनेवाले जब आकाश तक सिर उठाने की क्षमता रखते हैं तब क्यों न उसे अपनी प्रेरणा को उन्नति देनेवाला समझा जाए ! उपयोगितावादी कहते हैं कि इस विरह-वेदना से समाज को लाभ ही क्या है ? वे यह क्यों याद नहीं करते कि विरह भी सामाजिक जीवन में ही जन्म लेता है। वह प्रत्येक के जीवन में आता है, न आता तो लोकगीतों तक में वह क्यों उतर जाता ! वह तो बड़ा व्यापक है :

आज श्वासों की परिधि को पार करके
स्नेह का सागर बिखरता जा रहा है,
स्वप्ननिधियां रौंद अपने चरणतल से
चल रहा जो काल को भुज में समेटे
शून्य शत-शत शाप से निर्दग्ध जर्जर
विश्व का क्षण-क्षण अखरता जा रहा है।

×

भूल सब कुछ आज अपनी आँख मूँदे
जल रहा हूँ क्योंकि जलना ही पड़ेगा
दूर हो मंजिल फफोले पैर में हों
पर पथिक को मार्ग चलना ही पड़ेगा
वेदना से विकल मुरझाये हुए-से
प्राण की संदीप्त ज्वाला बीच तप-तप
कौन मेरे अश्रु से अभिषिक्त होकर
हृदय में पल-पल निखरता जा रहा है ?

—श्रीकृष्ण चैतन्य भट्ट 'राकेश'

श्वासों की परिधि एक जीवन में समाप्त हो जाती है और स्नेह का समुद्र उस परिधि के बाहर भी बिखरता चला जा रहा है ! जो अपने ही पांवों से स्वप्न की निधियों को रौंदता हुआ काल को भुजाओं में समेटकर चल रहा है वह सौ-सौ शापों से जर्जर हो गया है, और उसे विश्व का एक-एक क्षण अखर रहा है। कुछ भी हो चलना तो पड़ेगा ही। जीवन गति है, उसमें किसी प्रकार भी रुकने का आश्वासन

नहीं है। प्रेम की ज्वाला भीतर जलती रहे तो हृदय प्रतिपल निखार प्राप्त करता है, हृदय कुंदन है, और जितना ही उसे आंसू धोते हैं, उतनी ही उज्ज्वलता उभरती आती है।

वियोग अपनी असह्य पीड़ा लेकर आया है। उसने प्रेम के दो योगियों को वियोगी बना दिया है। यह योगी त्यागवाले नहीं हैं। यहां योग जोड़ है। दोनों की अपूर्णता का मिलन है एक नयी पूर्णता प्राप्त करने के लिए। किंतु वे आज बिछुड़ गए हैं। क्योंकि उनका मिलन समाज को ग्राह्य नहीं है। अतः दुख होना स्वाभाविक ही है :

आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे
आज से दो प्रेम योगी
अब वियोगी ही रहेंगे।

आयगा मधुमास फिर भी
आयगी श्यामल घटा घिर
आँख भर कर देख लो अब
मैं न आऊँगा कभी फिर
प्राण तन से बिछड़ कर कैसे मिलेंगे ?

आज से हम तुम गिनेंगे
एक ही नभ के सितारे
दूर होंगे पर सदा को
ज्यों नदी के दो किनारे
सिंधु तट पर भी न जो दो मिल सकेंगे !

यदि मुझे उस पार के भी
मिलन का विश्वास होता
सत्य कहता हूँ, न मैं
असहाय या निरुपाय होता
किंतु क्या अब स्वप्न में भी मिल सकेंगे !

'कब मिलेंगे ?' पूछता मैं
विश्व से जब विरह-कातर
'कब मिलेंगे ?' गूंजते प्रतिध्वनि
निनादित व्योम सागर
'कब मिलेंगे ?' प्रश्न, उत्तर 'कब मिलेंगे ?

—नरेन्द्र

अनंतकाल तक का व्यवधान बीच में है। निराशा का कहीं भी अवसान दिखाई नहीं देता। नरेन्द्र की शैली उसकी घुटन के जादू में झनझनाता तार है, और लोच में उसमें असंख्य करुण लहरियां हैं। नरेन्द्र की बात सदैव भारी-सी पलक के नीचे का

डबडबाता आंसू है। वह न शब्दों का जादूगर है, न भावों का। परन्तु केले के पात-पात में पात-सी उसकी सिहरन में से निकलती सिहरन सुला नहीं देती, सपने-सी कचोट मारा करती है। पुरानी पीढ़ी के होकर भी माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' में भी हमें दर्शन के सहारे से डगमग करती यही वेदना दिखाई देती है। दर्शन तो उसकी प्रमा का अवगाहन नहीं कराता, वह तो प्यार के बल पर कोई कर सकता है। भारतीय आत्मा में सरसता कम ही मिलती है, परन्तु जहां है वहां वह कोयल के मीठे बोल-सी सुनाई देती है :

वे तुम्हारे बोल !
वह तुम्हारा प्यार चुम्बन, वह तुम्हारा स्नेह सिहरन
वे अनमोल मोती वे रजत क्षण !
वे तुम्हारे आँसुओं के बिन्दु, वे लोने सरोवर
बिंदुओं में प्रेम के भगवान का संगीत मरमर !
बोलते थे तुम अमर रस घोलते थे तुम हठीले
पर हृदयपट तार हो पाये कभी मेरे न गीले !
ना अजी मैंने सुने तक भी नहीं, प्यारे तुम्हारे बोल,
बोल से बढ़कर बजा, मेरे हृदय में सुख क्षणों का ढोल !

आज जब, तुव युगल-भुज के हार का मेरे हिये में है नहीं उपहार
आज भावों से भरा वह मौन है, तव मधुर स्वर सुकुमार !
आज मैंने बीन खोई बीन-वादक का अमर स्वर भार
आज मैं तो खो चुका साँसें-उसाँसें और अपना लाडला उर ज्वार !
आज जब तुम हो नहीं, इस फूस कुटिया में कि कसक समेत
'चेत' को चेतावनी देने पधारे हिय-स्वभाव अचेत !
और यह क्या वे तुम्हारे बोल !

×

कलपना पर चढ़ उतर जी पर कसक में घोल
एक बिरिया, एक बिरिया, फिर कहो वे बोल !

—माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा'

प्रेम के भगवान का संगीत आंसुओं की तरलता में गुंजित होता है। स्वयं हृदय का मृदंग बजता था, तुम तो कब बोलते थे। आज भीतर का शून्य भर गया है, तो पूर्णता ने मौन को जन्म दे दिया है। बड़ी ही मिठास से 'एक बिरिया, एक बिरिया' कहकर कवि अपनी कसक के लिए पुकार उठता है। यों नये कवियों में प्रेम की वासना झूमती है, इतराती है, यह सब ऐसी है जिसे हम अलंकारों से भरा पाते हैं, इनमें नये प्रतीक हैं, चमत्कारों की भी कमी नहीं, इनपर समाज और व्यक्ति के द्वन्द्व का भी

गहरा प्रभाव है और शैली के परे यह भावभूमि में अतीत के साहित्यों से प्रेरणा लेकर भी नवीन है। काव्य का सौंदर्य इसमें अनेक धाराओं में बह रहा है। यह तो वेदना है। हृदय की बात का सारा उत्तरदायित्व जैसे इसीने ले रखा है। संयम के सांचे में ढलकर ही पिपासा सुन्दर रूप प्राप्त करती है। पिपासा क्योंकि तप में लीन है, इसी-लिए वह निरन्तर गल रही है। आंसू ही रहे-सहे कल्मषों को धो देते हैं। आंसू पवित्र होते हैं, क्योंकि वेदना में वे गल-गलकर निकलते हैं। जीवन की सत्ता तो कुछ दिन की है। उसमें इतनी जलन है, मानो साधना का कोई विराट क्षेत्र खुल गया हो :

मेरी तपलीन पिपासा ने
हृदयानल में अविरत गलकर
संयम के साँचे में ढलकर
पाया है रूप-सुभग-सुन्दर
औ' रहे-सहे कल्मष इसके
पावन दृगजल ने धो डाले।
इस ही प्याले में आज मुझे
आकण्ठ पिला साक़ी हाला
कल कुम्भकार से और नया
ले आऊंगा सुन्दर प्याला
मैं बदल चुका अगणित प्याले
सुन्दर, कुरूप, उजले, काले,
प्याला तो मेरा है कुरूप
पर प्यास कुरूप नहीं बाले।

—चिरंजीत

चलो, कोई बात नहीं, थोड़े ही दिन की बात है। कल कुम्हार से नया रूप ले आऊंगा। शरीर तो एक प्याला है। उसमें से तो हाला पी जाती है। वह तो मिट्टी का है। उसका सौंदर्य क्या देखना। सौंदर्य तो उस रस का है। इसी शरीर में वह सौंदर्य भर लेने की आज इच्छा है, और अवसर मिला तो कल फिर नया जन्म होगा, और तब नया शरीर मिलेगा। न जाने कितने रूप इसी प्रकार इस अनथक यात्रा में बदले जा चुके हैं। कौन जाने वे कितने प्रकार के थे ? प्याले की कुरूपता से क्या है, प्यास तो कुरूप नहीं है। पुनर्जन्म की यह आस्था अपनी स्थूल व्याख्या में तो आत्मा की यात्रा को अभिव्यक्त करती है, किन्तु यह वस्तु-तथ्य वैसे बड़ा साहस प्रदान करनेवाला है। यह तो मानव की अबाध-अनियंत्रित महागति का स्फुरण दिखलाता है, जिसमें अहं की क्षुद्रता नहीं रहती, बल्कि निरन्तर बहते रहनेवाले, परिवर्तित होते रहनेवाले, जीवन के प्रति अनुरक्ति को जन्म देता है। अपराजित विजयघोष उठता हुआ सुनाई देता है और बाह्य के उन बंधनों को तोड़ता है, जो मनुष्य और मनुष्य के बीच खाई

खोदता है। पुरुष अपनी प्यास से भयभीत तो नहीं होता। कवि कहता है :

यह तुमने क्या किया कि जो लौ
सहसा स्नेह-विहूनी कर दी ?
अंधकार में घुली उदासी
ढका राख से अङ्गारा था
यह अभाव का जीवन हम को
शतशत निधियों से प्यारा था
यह तुमने क्या किया बात बन
निठुर प्रज्वलित धूनी कर दी ?

×

मैं कितना ही रहा पिपासित
प्यास न फूटी किंतु स्वरों से
तुम शीतल झारी भर लाईं
आ सिमटी अञ्जलि अधरों से
यह तुमने क्या किया बूँद दो
ढाल, पिपासा दूनी कर दी।

—विश्वम्भर 'मानव'

हृदय ही तो है, एक बार उसमें दर्द पैदा हो गया। ठीक है, किन्तु फिर तो अपने अंगारे को अपने-आप दबा लिया। बुझेगा तो वह नहीं। वह क्या अपने वस की बात है ? इतना ही किया जा सकता था कि उसे ढक लिया राख से, यानी अपने को भस्म करके, बहुत कुछ को भस्म करके, फिर भी ढंक लिया। किन्तु नारी ने आकर यह क्या किया कि फिर राख उड़ा दी, और फिर अंगारा दहका दिया ! वह अभाव का जीवन तो सौ-सौ निधियों से भी प्यारा हो गया था, क्योंकि उसमें बड़ी जलन थी, फिर भी अच्छी लगती थी। और अब ऐसी बात चल पड़ी कि धूनी-सी जला दी। वह जो सांसारिक यथार्थ में लिप्त हो चला था, फिर उसके व्यक्तिवाद को जगा दिया कि योगी की सी निर्धूम तृष्णा जला दी। उसमें ऐसा हठ भर दिया कि वह अहरह अपने को खोने लगा। योगी की लगन भी तो बड़ी अचूक होती है। इसे हमारे साहित्य में तो मलिक मुहम्मद जायसी ने ही अमर कर दिया है। पुरुष कितना ही प्यासा था, प्यास फूटी तो नहीं थी कि स्वर का अरूप-रूप धारण करके दूसरों की चेतना को छूने लगती ! दो बूंद ढालकर पिपासा बढ़ाना तो वास्तव में जान-बूझकर तड़पाने के समान है। इसी वेदना में कवि अन्यत्र एक मीठी कल्पना में अपने को विभोर कर देता है :

वह कितना सुन्दर सपना हो !
जो आकर मेरे सिरहाने
तुम जलता मस्तक सहला दो

फिर बैठ पास झुक धीरे से
चूमो भीगे पीले कपोल
पोंछो गीले पलकों को यदि
शरमा कर फिर मुख फेर कहीं
मुख-मंडल लज्जारुण कर लो !
घंटों बैठो यों पास प्राण !
फिर ज्वर से जब सहसा कराह
तुमको पुकार आँखें भर लूँ
व्रीड़ा से आनतमुख, आँचल
से अश्रु पोंछ पीड़ा हर लो !

—नरेन्द्र

अमूमन बुखार में व्यक्ति अधिक कोमल हो जाता है। और सांत्वना चाहता है। यह सत्य है कि उस तपन में चुम्बन की प्यास कम ही रह जाती है, परन्तु बीमारी बीमारी का भी तो फर्क होता है ! फिर यह तो सपना है, कोई सचाई थोड़े ही है। अगर ऐसा हो तो कैसा हो। कितनी दूरी है ! कितनी रुकावट है ! करुणा ही वास्तव में उभरती आती है कि यह व्यक्ति जब तक स्वस्थ था तब तक तो किसी प्रकार झेल गया, परन्तु अब इससे नहीं सहा जाता। नरेन्द्र की कल्पना बड़े घरेलू किस्म की होती है। उसको समझने में बहुत ज़ोर लगाना नहीं पड़ता। लोगों ने तो प्रिया के हाथ से पके भोजन, उसके हाथों से परोसे जाने की ही प्रशंसा की थी, कामना की थी, किन्तु नया कवि पारिवारिक सुख चाहता है, उसे अपना सूनापन खाए जा रहा है। एक ही क्यों, न जाने कितने मध्यवर्गीय लोग इस बेचैनी में आकुल रहते हैं। नरेन्द्र में यह सूनापन बड़ी चपलता से व्यक्त हुआ है, वह नई-नई सूझों पर उतरता है :

बालारुण की किरण बनूँ मैं
दिन निकले ही आन जगाऊँ
जब तुम स्वप्न सेज तज जागो
खुली अलक, अधखुले पलक हों
पलक शिथिल हों खसे वसन-से
अलकें फैली जानु तलक हों
बालारुण की किरण बनूँ
पुतली की कनक-कनी बन जाऊँ !
स्नान सुशीतल शीत गात से
जब तुम वस्त्र सुखाने आओ
फैला खुली हुई बाँहों को
धुली हुई धोती फैलाओ

बालारुण की किरण बनूँ
मृदु अंगों में कंचन भर जाऊँ !
समुख सखियाँ बात छेड़ जब
कभी खिजावें, कभी रिझावें
मिलन-स्वप्न की पूछ पूछ कर
स्वयं हँसे औ' तुम्हें हँसावें
किरण बनूँ, द्युति बन दाँतों की
अरुण हास अधरों पर लाऊँ !

—नरेन्द्र

प्रिया की इतनी सेवा की भावना के मूल में सान्निध्य की उत्कट भावना है। पास पहुंचने की तो कल्पना भी बड़ी सुखद है। यह स्त्री नितांत घरेलू है, निम्नमध्य-वर्गीय है, क्योंकि अपनी धोती स्वयं धोकर छत पर स्वयं सुखाने आती है। अभी उसका विवाह नहीं हुआ है, होनेवाला है, प्रिय का तो पता चल गया है, तभी तो सखियां अठखेलियां करती हैं, छेड़ती हैं। नरेन्द्र की प्रिया बड़ी सहज मानवी है। उर्दू कवियों में भी छज्जे पर उलझन-भरी आंखों से उझक-उझककर देखनेवाली, प्रतीक्षा करनेवाली स्त्रियों के दर्शन होते हैं और वे भी बड़ी आकर्षक दिखाई देती हैं। नवयौवन की देहली पर पांव धरने पर तो ऐसे अनजाने स्वप्न सदैव प्रायः सभी में जाग उठते हैं। तभी नरेन्द्र की 'भावी पत्नी के प्रति' नामक कविता में बड़ी कर्त्तव्यनिष्ठा भी मिलती है। सुमित्रानन्दन पंत ने भावी पत्नी के प्रति यह नहीं कहा जो नरेन्द्र ने कहा है। दृष्टिकोण दूसरा है :

कठिन कर्म है, प्रिय, यह जीवन
और नहीं आँखों में ही जग
हमें पार करना होगा नित
इस जग-जीवन का दुर्गम मग
सरल स्नेह विश्वास सत्य की
तुम शुचि अकलुष दीप-शिखा बन
गृह को सुख-सुखमामय करना
ज्योति प्रीति से भर घर-आँगन !
प्राण, प्रेम के क्षीर-सिंधु में
नहीं दैन्यदुख का खारापन
थोड़े-से सन्तोष त्याग से
सुखमय बन जाता है जीवन
हम जीवन के युद्धक्षेत्र में
नित्य निरत रह साथ रहेंगे

कभी कभी फिर प्रेम कलह से
प्रीति पुरानी नई करेंगे !

—नरेन्द्र

यहां प्रेम कर्तव्य में आकर बदल गया। अब नारी केवल प्रेयसी नहीं रही। जीवन तो सागर है। उसे तैरकर पार करना है। 'प्रेयसी' और 'पत्नी' का भेद कितना स्पष्ट है ! यह है पुरुष की वासना का द्वैत ! नारी के जीवन में भी क्या हमें ऐसा द्वन्द्व दिखाई देता है ? यही हमें देखना है। पत्नी का जीवन ही एक संघर्ष का संबल है, प्रिया तो केवल आश्रय है, जिसकी छांह में नये जीवन की थकान मिटाने की आवश्यकता पड़ती है। नई कविता में यह द्वन्द्व ही व्यक्ति और समाज के बीच की खाई है, जो यदि न होता तो वह जनमानस में कहीं अधिक गहराई से उतर जाती। 'परकीया' न होकर भी यह 'नायिका' अभी तक मर्यादा की 'पूज्य भावना' को संभवतः प्राप्त नहीं कर सकी है।

वासना : नारी

प्रेम और यौवन काव्य के मेरुदण्ड हैं। यौवन जीवन का वह भाग है जब विकास करने की शक्ति अपनी पूरी सामर्थ्य से जागरूक रहती है। बाल्यावस्था से सहज विकास करनेवाला व्यक्ति इसी आयु में बुद्धि का भी विकसित रूप प्राप्त कर लेता है, जिसमें ग्रहण करने की संतुलित मर्यादा व्याप्त रहती है। बाल्यकाल में वह चित्रों और यथातथ्यों को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लेता है। उसमें जिज्ञासा और कौतूहल की ही प्रधानता होती है। वह निरंतर नये-नये वस्तु-विषयों का संकलन करता जाता है।

यौवन एक आगे की मंज़िल है। इसमें भाव और प्रवृत्ति का ही काम नहीं होता, बुद्धि उस संकलन का संपादन करती है। इस अवस्था में अपेक्षाकृत ग्राह्य शक्ति कम हो जाने पर भी अपेक्षाकृत विवेचन-शक्ति बढ़ जाती है, और मनुष्य के जीवन का यही वह समय होता है जब बहुधा भाव और तर्क अपना सामंजस्य स्थापित करते हैं।

यौवन में उद्दण्डता सहज स्वाभाविक होती है, जो कालांतर में ही कम हो पाती है और दृढ़ता के रूप में परिवर्तित हो जाती है। बाल्यकाल में विस्मय की प्रधानता होती है, यौवन में विस्मय लालित्य को ग्रहण करता है। सौंदर्य की ओर विशेष अभिरुचि हो जाती है। नया रक्त आनन्द की अनुभूति करता है और उस समय मस्तिष्क की अनेक शक्तियों में से भाव की ही विशेष प्रबलता रहती है। बाल्यकाल में जहां प्रवृत्ति अपना प्राकृतिक कार्य करती है, यौवन में सामाजिकता का परिपाक होता है और भाव अधिक सशक्त हो जाता है।

सौंदर्य रंग और रूप में ही समाप्त नहीं हो जाता। यौवन शक्तिस्फीत जागरूकता का प्रतीक है और वह सौंदर्य की अपने भीतर ही अनुभूति पाने लगता है और जैसे-जैसे उसका विकास अपनी परिधि को बढ़ाता है, वह ऐसे स्फुरित होने लगता है जैसे कलिका खिलते समय अपना सम्मोहन फैलाने लगती है।

बाल्यकाल की अबोधता का स्थान यौवन में एक आनन्द की अनुभूति लेने लगती है। यही सहज स्वाभाविक विकास का क्रम है, जो मनुष्यों के विभिन्न युगों और रूपों में अवस्थित रहा है। बाल्यकाल में जो संसार नया-नया लगता है, यौवन में आंखें ठहरकर उस कुतूहलमात्र की भावना से पार होकर उस क्रिया व्यापार के सूक्ष्म और स्थूल रूपों को देखकर उसमें रस की सुखद व्याप्ति को ढूंढने में लग जाती हैं।

जिस प्रकार बाल्यावस्था के बाद यौवन एक छोटे-से पक्षी के पंख फैलाने के समान है, फैले हुए पंखों को चलाकर, पवन की सांसों को थपेड़ा मारकर, विस्तीर्ण गगन में उड़ने के समान है, उसी प्रकार वृद्धावस्था उन खुले हुए पंखों को समेट लेने का नाम है, उन पंखों को समेटकर आश्रयस्थल की खोज में नीचे उतरने के समान है।

जिस प्रकार प्रवृत्ति पर आश्रित काल बाल्यावस्था है, भाव की सशक्त अवस्था का काल यौवनावस्था है, वार्धक्य बुद्धि-प्रधान हो जाता है और विचार उसमें अधिकांश सशक्त पाया जाता है, जिसमें तर्क होता है, हानि-लाभ की विवेचना करने की शक्ति होती है। तर्क और बुद्धि दोनों का मनुष्य के जीवन में क्रमशः विकास होता है। यौव में विचार करने की अधिक शक्ति नहीं होती, क्योंकि शरीर का बल अधिक होता है और वह बल आवेश का स्रोत है। इसका यह अर्थ नहीं कि वार्धक्य में प्रवृत्ति औ भाव का लोप हो जाता है। दोनों ही जीवनपर्यन्त रहते हैं, किन्तु प्रवृत्ति जिस प्रकार प्रारम्भ में अधिक सशक्त होती है, भाव यौवन में अधिक सशक्त होता है, वार्धक्य में विचार अधिक सशक्त हो जाता है।

हमारे समस्त प्रवृत्ति, भाव और विचार मस्तिष्क की विभिन्न शक्तियां हैं जो धीरे-धीरे सामाजिकता के साथ विकास करती हैं। जन्म लेते समय शिशु में प्रवृत्तिमात्र होती है। कालांतर में भाव जगता है, जिसमें प्रवृत्ति का वह उदात्तस्वरूप आकार ग्रहण करने लगता है, जिसको बुद्धि का पुट प्राप्त होता है, जो समाजीकरणत्व का प्रभाव है। वार्धक्य में विचार प्रवृत्ति के उस रूप को प्रकट करता है, जिसपर बुद्धि-शक्ति अधिक प्रभाव डाले रहती है।

वस्तुतः काल-व्यवधान में जो गुणात्मक परिवर्तन करता हुआ भौतिक का विकास है, वही तीनों अवस्थाओं का विश्लेषित सार है। सद् और असद् की भावना यद्यपि सापेक्ष है, अपने समाज के प्रति सापेक्ष है, किन्तु वह इन वयों में काफी भिन्नत्व रखती है। सद् और सुंदर तथा न्याय की ओर जितनी सहज निकटता यौवन में रहती है उतनी वार्धक्य में नहीं, क्योंकि मस्तिष्क के चेतन तंतुओं का विकास यौवन के बाद बन्द होने लगता है।

बहुधा बहुत-से लोग वृद्धावस्था में बहुत भावुक भी पाए जाते हैं। इसका कारण यही है कि उनकी यौवन की भावाश्रित अवस्थिति अपनी लचक को खो नहीं पाती, वह उनके व्यक्तिगत विकास के पथ में अपना महत्त्व विनष्ट नहीं कर देती।

अधिकांश कवि अपने यौवन के प्रारम्भ में ही कविता करना प्रारम्भ करते हैं। इसका कारण यही है कि उसी समय उनमें भावों का वह रूप विकास करता है, जो अपने भीतर सुंदरता की अधिक से अधिक अनुभूति को आत्मसात् करना चाहता है। यौवन की इस मंज़िल में प्रायः ही लोग कविता पढ़ते हैं और उन्हें उसमें आनन्द भी अधिक आता है। बचपन में जो कल्पनाशक्ति सृष्टि के विभिन्न विस्मयकारी स्वरूपों में अपने व्यक्तित्व का विकास पूर्णतया नहीं कर पाती, यौवन में वह अधिक चेतन हो

जाती है और सृष्टि के नानाविध रूप-व्यापारों में सामरस्य खोजने लगती है। इस अवस्था में, पशु-पक्षियों के बोलने की, पेड़ों के हंसने की तथा इसी प्रकार की कल्पनाएं जो बचपन में विस्मयमूलक आनन्द देती थीं, उतना आनन्द नहीं देतीं। अब कल्पना अपने वैविध्य को समेटकर 'रागतत्त्वों' से अधिक निकटता स्थापित करती है और व्यक्ति केवल उपदेशमूलक आश्चर्य नहीं, वह ऐसा विकास चाहने लगता है जिसमें उसके व्यक्तिगत भाव सक्रिय रूप से अन्यों के निकट आ सकें और वह सान्निध्य में अपना भी विशेष आनन्द प्राप्त कर सके।

जीवन के वैविध्यों में सामरस्य की अनुभूति को प्राप्त कराना काव्य का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। हम विभिन्न प्रकार के कार्य करते हैं, उनमें जीवन के नानाविध रूप प्रकट हुआ करते हैं, किन्तु उनको खंड रूप में देखने से मन को तृप्ति नहीं होती। प्राचीनकाल में इसीलिए ऐसे काव्यों का सृजन हुआ, जिनमें जीवन के विविध रूप चित्रित किए गए, किन्तु कालांतर में लोगों ने अनुभव किया कि चित्रण-मात्र हमारे ज्ञान के लिए भले ही आवश्यक हो, किन्तु जब तक उस सारे चित्रण में हृदय-तत्त्व नहीं होता तब तक वह काव्य की संज्ञा नहीं पा सकता। इसीलिए जब वैदिक युग समाप्त हुआ और भारतीय सामंतकालीन व्यवस्था के चिंतन ने सिर उठाया तब उसने वेद, उपनिषद् और ब्राह्मण साहित्य तथा पुराणों को भी काव्य की संज्ञा से अलग रखा, यद्यपि उनका महत्त्व धार्मिक ग्रन्थों के रूप में स्वीकार किया गया। इसका कारण यही था कि नया युग अपने कवि को पुरातन के आवश्यक बंधनों से स्वतंत्र रखना चाहता था। काव्य को यदि गहराई से देखा जाए तो वह निरंतर इसी मूलतत्त्व को खोजनेवाली भावात्मक पद्धति का नाम है, जिसको लेकर इतिहास में मनुष्य ने अनेक प्रयोग किए हैं। समस्त और न्यस्त, सूक्ष्म और स्थूल, बाह्य और अंतस्थ, आदि अनेक द्वंद्वों ने विभिन्न युगों में अपना विकास किया है। वर्तमानकाल मानो इस समस्त द्वंद्ववाद की नई चपेट लेकर उपस्थित हुआ है, इसमें हमें सर्वाधिक असंतोष दिखाई देता है, क्योंकि नये कवि का मानसिक आधार एक बहुत ही परिवर्तनशील भूमि पर बनता-बिगड़ता है। जिस युग में हमें कुछ नैतिक नियम दृढ़तर बने दिखाई देते हैं, उसमें हमें आस्था का रूप स्पष्ट ही परिलक्षित हो आता है किन्तु जिस युग में हमारे भीतर ही एक हलचल भरी हो, वहां हमें ऐसी कोई स्थिरता दिखाई नहीं देती। अतीत और वर्तमान का द्वंद्व यहां निरंतर मुखर होता जाता है। किन्तु वर्तमान के कवि ने सदैव अपने अतीत को ठुकराने का प्रयास नहीं किया है। उसका विरोध है उसे ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेने में, क्योंकि उससे उसकी तृप्ति नहीं होती। फिर भी जो अतीत की रम्य भावना है, उसे उसने अपने भीतर तक प्रतिध्वनित करने की चेष्टा की है। तारा पांडे कहती है :

दूर किसी ने वेणु बजाई!
संध्या की धूमिल-सी बेला

परदेशी वह पथिक अकेला
बैठा शांत, क्लांत हो उन्मन
पथ में गो-पद धूली छाई।
नीरवता में गूंज उठा स्वर
अमर तृषा प्राणों में भरकर
पलकें पथ पर बिछ-बिछ जातीं
दीख रही किसकी परछाईं।

×

गाओ हे अनजान विदेशी
बने आज क्यों तुम परदेशी
किसकी सुधि से होकर आकुल
बड़ी-बड़ी आँखें भर आईं।

—तारापांडे

नारी की मूलभूमि सृष्टि है, और सृष्टि का आधार वासना है। वह उसे स्पष्ट ही अपने से अलग नहीं कर पाई है और संभवतः कर भी नहीं सकेगी। उसके नीरस होने का अर्थ सृष्टि के नियम का समाप्त हो जाना है। वह पालन करती है। पुरुष की निर्ममता उस समय अपना सिर उठाती है, जबकि उसका अपने चारों ओर से सामंजस्य नहीं बैठता। नारी इस सामंजस्य को पुरुष की भांति अपने से अलग करके नहीं देखती। वह तो उसमें अनिवार्य रूप से विद्यमान है।

उसे दूरागत आकर्षण की यह वंशीध्वनि चिरंतन सांत्वना देती रही है। उसने जिसे प्राप्त कर लिया है उसकी वास्तविकता को वह अपनी प्राप्ति से भी बड़ा बनाकर देखना चाहती है, क्योंकि उसकी देह जो एक आवश्यक सृष्टि का माध्यम है, वह उसी-में अब समाप्त नहीं हो जाना चाहती। इसी ध्वनि को हम मीरा की तन्मयता में भी प्राप्त करते हैं। यहां हमें आसक्ति एक लघुता की ओर खींचती हुई नहीं मिलती। छायावाद के विषम तथा उलझे अर्थ यदि हम खड़े नहीं करें, तो ये कविताएं हमारे मानस को अधिक छूने की शक्ति रखती हैं। नारी तो शरीर-मात्र नहीं है, वह किसीके पास पहुंचनेवाली अनुभूति का एक प्रकारांतर मात्र है, जो पुरुषों में भी है। कवयित्री कहती है :

परवशता से मेरे अन्तर
की सब भूमि हुई थी काली
विश्वासों के डिग जाने से
सूख गई थी सब हरियाली
पावस क्षमा लिये तुम आये
डाल-डाल पर फल खिलाये

पूजा-पाठ जोग-तप साधे
पुण्यकर्म जो कुछ कहलाते
पर मेरे प्राणों के नभ में
भय के बादल छाते जाते
तुम मुस्काए मेरे नभ में
जनम-जनम के धुंध मिटाए
मोहशिला-सी अडिग बनीं जब
संस्कृतियों की सकल बूढ़ियाँ
और अगति की जड़ता से जब
अचल बन गईं यहाँ रूढ़ियाँ
तुमने अपनी कर्मठता से
पथ के बाधक शैल हटाये।

—विद्यावती कोकिल

अपने नये प्रिय के रूप में वह अपनी विद्रोही आत्मा की ही प्रतिध्वनि सुनती है, तभी वह अन्यत्र कहती है :

मुझको तो तेरी अस्ति छू गई है। अब मैं भार से विथकित नहीं होती, न ताप से विगलित, न शाप से विचलित होती हूं। जैसे सब स्वीकार बन गया हो, मुझको तेरी अस्ति छू गई है। दरिद्रता का मतवाला नर्तन है, पीड़ाएं आशीष-वर्षण के समान हैं, तेरी चितवन का मूक प्रदर्शन जैसे तेरा सुख-अनुहार बन गया हो, ऐसी तेरी अस्ति मुझे छू गई है।

अनंत और महान की यह तन्मयता जो हमारे काव्य में आई है, वास्तव में नये विश्वासों की अभिव्यक्ति है, जो समाज के बंधनों के कारण इस रूप में प्रकट हुई है। स्पष्ट ही यहां एक विद्रोहकारिणी क्षमता है, जो विरक्ति की जगह आसक्ति में नया विश्वास उत्पन्न करती है। नारी की इस भावना को हम पुरुषों में भी पाते हैं। 'मज़दूरिन' में केसरी ने भी इसी प्रकार की तन्यमता का अनुभव किया है। तो जब हम नारी की वासना का प्रकटीकरण करते हैं तो शरीर से स्त्री कहलानेवाले प्राणी का वर्णन नहीं करते, वरन् उसकी जो अपनी भावाभिव्यक्ति है, उसको ही अपना वर्ण्य विषय बनाते हैं। मूलरूप में वेदना अपने को निर्द्वन्द्व रखती है, क्योंकि वह जीवन की आस्था को मांगती है, तभी कहा है :

पिया! सुधि कैसे रहा बिसार
हाय! यह फागुन बीत चला!
ऋतु वसंत छवि गृह-गृह छाई
फूल उठी सुरभित अमराई

गाँव-गाँव की कुटी-कुटी में
होता बिछुड़ों की पहुनाई
'आज प्यार का पर्व वियोगिनि'
कोयल यह संदेशा लाई
मेरी ही दुनिया सूनी क्यों
हूक-भरी बालम-सुधि आई
हिया होगा वह कुलिश-कठोर
आज भी आह ! न जो पिघला
पिया ! यह फागुन बीत चला।

—केसरी

इस वेदना का पक्ष जायसी की नागमती की एक झलक-भर देता है। हमें यहां जो मज़दूरिन मिलती है वह अपने वर्ग से कहीं अधिक अनुभूति रखती है। निम्न वर्ग का मनुष्य अपनी अशिक्षा और शताब्दियों के संस्कारों के कारण जब तक नयी चेतना के संपर्क में नहीं आता, तब तक वह अपनी वेदना को उतना अनुभव नहीं करता, जितना शिक्षित हो जाने के बाद। कवि ने उसके मानवीय रूप को उभारा है। भले ही मज़दूरनी इन शब्दों में अपनी वेदना नहीं समझती, किन्तु उसका मानवीय तत्त्व इन भावों से दूर नहीं रहता, उसके प्रकटीकरण का अपना स्वरूप कुछ भिन्न ही क्यों न हो। वास्तव में इस प्रकार का चित्रण लोक-गीतों की छलछलाती व्यथा के कारण हुआ है।

प्रकृति का सौन्दर्य संवेदना को जन्म देता है और नारी के भीतर एक हलचल उत्पन्न होती है। हलचल का रूप प्रायः भारतीय स्त्री में अपना समर्पण ही करना रहा है। स्त्री अपने को स्वतन्त्र करके जब देखती है तब संभवतः वह अपने को बहुत ही अकेला पाती है, बल्कि ऐसी कल्पना भी उसे अग्राह्य होती है। अपनी पूर्णता का एक रूप उसमें पूर्ण समर्पण है और वह उस समर्पण को सृष्टि के व्यापक मूल तत्त्व से जोड़ना चाहती है :

मैं केवल चरणों की दासी।
पद रज है मेरा अंगराग
नित नई सुगन्धित रज पाती,
अनुकम्पा है मेरा सुहाग
जिसकी लाली मन हर जाती
मैं बार-बार वे पद छूने
बस जनम-जनम से हूँ आती
निर्वाण यहीं है मुक्ति यहीं
मेरा काबा, मेरी काशी।

×

है नहीं रूप का लोभ यहाँ
जीवन बन जाता नहीं भार
यौवन का यहाँ चढ़ाव नहीं
है, और न आता है उतार
मुझको न तपाते ताप यहाँ
मुझको न सताते लू-बयार
पगचिह्न बने वट वृक्ष और
सब ठौर हो रही छाया-सी

—विद्यावती कोकिल

जिस महान की सत्ता एक ओर स्पष्ट नहीं दिखती वह अंततोगत्वा इसी धरती के प्यार के रूप में प्रकट होती है। वह अपनी क्षुद्रता के परे हो जाती है और जन्म-जन्मान्तर के बंधनों को स्वीकार करती है। मानो जो समस्त की व्याप्ति है उसमें जो एक अविश्रांत मात्रा है, वह उसे सकारण दिखाई देती है, उसके प्रति उसे अनासक्ति नहीं है, बल्कि उसके प्रति उसके हृदय में एक प्रीति है, जिसे वह पवित्र मानती है। ये पगचिह्न जिनकी छाया में सब व्याप्त है, इस कवयित्री को अपनी ओर इसीलिए आकर्षित करते हैं क्योंकि उसका सुहाग जो एक पार्थिव आनन्द का साधन है, वह साधन है जिसकी प्राप्ति में उसे आत्मिक संतोष प्राप्त होता है, वह उसे अपने निकट-तम पाती है। केसरी में यही वेदना अपने को बाह्यमुखी बनाकर प्रकट करती है, क्योंकि उसने केवल अंतस्थ में अपने को समेट नहीं लिया है :

कितने दिन से आह, यही
मधुमास-आस ले मैं जीती हूँ
चुपचुप जग की चहल-पहल से
दूर अश्रु गम के पीती हूँ
गौरैया-सी चुन-चुन खेतों से
दाने फल-फूल सलोने
अपने अवध-विहारी हित
शबरी-सी लाती भर-भर दोने
जुटा सकी थी किन यत्नों से
तेल नयी सरसों का थोड़ा
रुपये भर का घी पैसे-पैसे
था जिसे महीनों जोड़ा
पड़ी वहाँ वह कितनी साध-
उमंगों को लेकर चरपाई

कितने दिन ठाकुर के घर की
जिसके हित सरतोड़ कमाई
साक्षी है आँगन का वह
तुलसी बिरवा प्राणों का प्यारा
चबूतरा जिसको पुनीत गोबर
से मैंने नित्य सँवारा
कितने कातिक और माघ
गंगाजल जिसपर समुद चढ़ाया
कितने दिन रे, तपस्विनी-सी
मैंने दीपक अर्घ्य जलाया
किया व्रत कौन न मैंने ? किन्तु
विफल सब, एक न हाय फला
पिया, यह फागुन बीत जला।

—केसरी

नारी के ये दो रूप हमें आधुनिक कविता में प्रायः प्रत्यन्तर से प्राप्त होते हैं। जीवन के कठोर श्रम की परिणति भी एक प्रेम की चाहना पर पलती है। और जो अपने लिए साधन जुटाना कठिन नहीं पाते, वे भी अपनी अतृप्ति को ही महत्त्व देने को विवश होते हैं।

वर्गवाद की चिंतना इन दोनों के दो रूपों को देखती है कि एक में संघर्ष है, दूसरे में पलायन। किन्तु वास्तविकता यह है कि दोनों में ही यहां संघर्ष है, संघर्ष के स्तर अलग हैं, संघर्ष के क्षेत्र अलग हैं; कुत्सित समाजशास्त्री चिंतन ने इसे आज तक नहीं देखा है। सौन्दर्य का सृजन यदि हमें तृप्ति देता है, तो यह समझना आवश्यक है कि वह कुरूपता के स्तरों को फाड़कर जन्म लेता है, उसे उपयोगितावाद की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता क्योंकि उसका मूल तत्त्व करुणा है :

मेरे मधुमय गान सजल तुम
तुम निशीथ के करुण राग हो
राका रजनी के सुहाग हो।
अभिलाषा के घन अधीर
नवयौवन के अरमान सजल तुम !
तुम दो हृदयों के कम्पन हो
तुम कोमल आशा के धन हो।
नवल प्रिया के मान हठीले
मिलनातुर अभिमान सजल तुम !

तुम सँयोग के आलिंगन हो
तुम तन्मयता के चुंबन हो
मदमाते अपलक नयनों के
ओ मादक वरदान सजल तुम !

—श्याम बिहारी शुक्ल 'तरल'

करुणा का आधार मानवीय मूल्यों का अंकन करना है। सौन्दर्य का दूसरा भी एक पक्ष है जैसे आकाश के सुन्दर बादलों की रंगीनी का चित्रण। वह आत्मसुख देता है अपने उद्दीपन और सम्मोहन के कारण, वह हमारे उपर्युक्त पक्ष से बिलकुल अलग है ; यह हो सकता है कि इनमें पूर्वापर रूप से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध हो। 'तरल' में मिलन की तृष्णा हमें अपने संकुचित दायरे में नहीं मिलती। इसीलिए उसे महत्त्व देना आवश्यक है। छायावाद ने जो क्रमशः अपना विकास किया है, उसको देखने से हमें अनेक विशृंखलित कड़ियां जुड़ती हुई दिखाई देती हैं। यह परिवर्तन ऐसा धीमा-सा है कि हमें वह चौंका नहीं देता, क्रमशः आगे ले जाता है।

हमारा मध्यकालीन चिंतन मूलतः अभावात्मक रहा है। प्रेमी के रूप में 'उसको' देखा अवश्य गया है किन्तु उसे सूक्ष्मतम बनाया गया है। सगुण रूप में भी वह' दायरे में बंधा रहा है। वर्तमानकालीन छायावादी कहे जानेवाले कवियों में पहली बार हमने यह देखा कि 'उसको' सीमाओं के पार देखने की चेष्टा हुई। यह परवर्ती कवियों का ही काम रहा कि 'उसको' जीवन की समस्त मांसलता से संबद्ध किया गया और 'उसको' अपनी व्यवहार-क्रियाओं में अत्यन्त निकटतम करके देखने का प्रयत्न प्रारंभ हुआ। यहां वह सजीव प्रिय है :

आज न उनसे बात करूँगी !
अपने दिल की धड़कन में ही
उनके मीठे गीत सुनूँगी
मेरी वाणी, उनकी पीड़ा
बने न, आली ! मौन रहूँगी।
मेरे उर के अतल सिन्धु की
सजनी ! सारी आज उमंगें
बह न सकेंगी आँखों से री
आँसू की बन तरल तरंगें
और कहीं इस अटल मौन से
उनके दिल में आग लगेगी
तो यह उनकी आज प्रेयसी
उनके पद चुपचाप गहेगी।

अपनी पीड़ा पीकर भी यों
उनको शाश्वत सुखी रखूंगी ।

—हीरादेवी चतुर्वेदी

'वह' यदि केवल परमात्मा है तो 'उसको' शाश्वत सुखी रखने का प्रश्न ही कहां उठता है ? कवयित्री का मानस अपनी ही पीड़ा से वास्तव में संक्षुब्ध है ।

विद्यावती कोकिल कहती है कि ये मेरी पूजा के क्षण हैं । ओ मेरे आंसू, अभी बहना मत । इस समय मेरा व्रण स्पंदित-पुलकित है, कहीं तुम असगुन करके कुछ कह न देना । ओ मेरे पाप, अभी मत जागना, न मेरे पुण्यो ! तुम ही ठगना, क्योंकि मेरे अर्पण तर्क से परे हैं । अंधकार में दीपक की ज्योति खो गई है, नास्तिकता की भक्ति बन गई है, मेरे आकर्षण तो बेबस हैं ।

कोकिल का अर्पण बुद्धि का विरोधी नहीं है, बुद्धि के लघुत्व का विरोधी है, क्योंकि बुद्धि अपने-आपमें कभी पूर्ण नहीं है । आधुनिक चिंतन सब कुछ तर्क पर रखता है, परंतु उसे नास्तिकता कहने में भी हानि नहीं है, क्योंकि वह अपनेको व्यापक नहीं बनाता । फिर यह तो प्रेमी के हृदय की पुकार है । वासना की अनुभूति की तीव्रता में जब मेघ को भी दूत बनाकर भेजने की परम्परा भारतीय साहित्य में विद्यमान है, तब फिर कोकिल की विवशता क्या सहज नहीं है ? जब स्त्री अपने एकांत में ही अवरुद्ध रह जाती है, तब भी तो वह पराजित नहीं होती । उसकी चेतना अपने-आपको एक नई गति-लय से भरती है ।

मेरी एक निराली दुनिया
मैं हूँ उसकी रानी
मैं ही कहती, मैं ही सुनती
अपनी नित्य कहानी
हँसती हूँ तब चारु चन्द्रिका
वसुधा पर छा जाती
रोती हूँ, अविराम झड़ी तब
मेघों से झर आती
मेरी मिहँदी की लाली ले
नव वसन्त नित आता
मेरी पायल झनकारों से
जग मादक बन जाता
मेरे सिर का शीषफूल जब
चारु चन्द्र मुस्काता

नील गगन से भू तक आली
मादक कम्पन आता

—हीरादेवी चतुर्वेदी

और यहां हम देखते हैं कि आत्मा के एक-एक स्पंदन में हमें विराट सृष्टि को अपने पास लाने की, अपने में आत्मसात् कर लेने की शक्ति मिलती है। मानो यह सारी सृष्टि मानवीय हो गई है। विरहिणियों के ऐसे वर्णन हमें अन्यत्र भी मिलते हैं, किन्तु यह जो रवीन्द्र का सा उद्दाम स्फुरण है कि—मेरी वासना आज त्रिभुवन में बज रही है, नदी-वनराजि वेदना से भरे कांप रहे हैं। यह नारी के मुख से नये युग में ही सुनाई देता है। मर्यादा के कूलों को यहां किसी विद्वेष से नहीं तोड़ा गया, इसीलिए उससे किसी प्रकार का विरोध करने की भी आवश्यकता नहीं है। रूपसी को अपना वैभव देखकर तो आनंद ही मिलता है। युगावरोध तो सत्ता की अविरत धारा को रोकता है। यहां वह नहीं है। हमारी एक परंपरा रही है और वह अभी तक मान्य है कि यहां जाने या अनजाने स्त्री अपने पति को पूज्य भी मानती है, उसका आदर भी करती है। हो सकता है यह भावना पितृसत्ताक समाज के कारण पुरुष-प्राधान्य ने प्रस्तुत की हो, किन्तु इतना ही नहीं लगता, क्योंकि यूरोप में भी पितृसत्ताक समाज का ही तो विकास हुआ है। हमारा दर्शन भी कुछ ऐसे ही प्रभाव डालता रहा है, इसीसे नारी में वेदना भी समाज से ही व्यक्त होती है।

बीती की निर्जन वन्या में
स्मृतियों के पदचाप
इस नश्वर काया के तट पर
छोड़ अनश्वर छाप
किसी अचिंतित पथ की ओर
पा न सकी हूँ जिसका छोर
अनवरुद्ध गति से बढ़ते हैं
अरे आप ही आप।

×

बीता दिन तो क्या न यामिनी
का होगा अवसान ?
मुखरित होगा क्या न कभी
यह जीवन-पथ सुनसान ?
क्या न कभी ये सिक्त कपोल
आशा की लहरों में डोल

फुल्ल कमल-से फूल करेंगे
प्रियतम का आह्वान ?

—शकुंतला मिश्र

दर्शन में वेदना अपनी कचोट को तो बड़ा बनाती है, किन्तु वह अपने प्रति दूसरों में भी एक संवेदना पैदा कर लेती है। इस प्रियतम की विशेषता यह है कि सारे प्रियतम इसके भीतर ही सन्निहित रहते हैं। अपने यौवन का अंत देखकर भी जो हृदय भयभीत नहीं होता, और नश्वरता का अनुभव करके भी जो अपने आकर्षण का अंत नहीं देखता, क्या ऐसे प्रेम को हम निम्नकोटि का कह सकने में समर्थ हो सकते हैं ? अपनी निराशा को सीमाहीन समझकर भी उसे अंत में आशा के प्रहरी के अधीन कर देने की शक्ति भारतीय नारी-भावना की सहिष्णुता का ही चमत्कार है। यद्यपि इसके कुप्रभावों की भी कमी नहीं रही है, और वे गद्य में प्रेमचन्द में अपनी अभिव्यक्ति पा सके हैं, किन्तु प्रेमचन्द में भी जहां हृदय-पक्ष है वहां इस रूप की अवहेलना नहीं की जा सकी है, चाहे वह उच्चवर्ग की स्त्री हो, या निम्नवर्ग की। सहज विश्वास मानो भारतीय नारी की अपनी ही मान्यता है, अन्यथा उसे 'आधुनिकता' की चकाचौंध में पड़कर भी भारतीय स्त्री क्यों नहीं छोड़ सकी है ? वह किसी भी अवस्था में उसे जागरित रखती है :

तरह-तरह के रंग
हृदय के भाव जगाते हैं।
तरह-तरह के गीत
हृदय के घाव जगाते हैं।
भीषण कोलाहल में छिपकर कोई आता है।
होली का उन्माद किसी की याद दिलाता है।

×

बदल रहा है वर्ष
मुझे लेखा भी देना है,
व्यर्थ गया केवल मुझको
इतना कह देना है,
नया वर्ष भी नहीं नये आकर्षण लाता है,
होली का उन्माद किसी की याद दिलाता है।

—विद्यावती मिश्र

यह चित्र एक विगत जीवन को प्रस्तुत करता है। इतना ही उद्धरण हमें एक नारी को सोचते हुए दिखाता है जो बैठी हुई विषण्णवदना, उदास आंखों से होली का आनन्द देख रही है। उसके सामने संवत्सर बदल रहा है। उसके मानस में तरह-तरह के भाव जाग रहे हैं, क्योंकि रंगों से उसकी स्मृतियां को उभार मिल रहा है। इस

कोलाहल में संभवतः 'वह' किसी दिन छिपकर आया था, और आज अनुपस्थित होने पर भी 'वह' उसी प्रकार चला आ रहा है। कोलाहल आनन्द का है, केवल दर्शिका का मानस-पक्ष उसे अपने से कुछ अलग रखता है, क्योंकि उसे पूर्ण तृप्ति नहीं मिल रही है। इसीलिए व्यतीत होता हुआ समय उसके सामने से व्यर्थ चला जा रहा है, उसे अब कोई आकर्षण नहीं लगता। उन्माद के माध्यम से आनेवाली याद की अवस्थिति ने भी यह नहीं भुलाया है कि यह जीवन वास्तव में असिद्ध नहीं है, इसकी एक सार्थकता है, इसके लेखे-जोखे की आवश्यकता है। इससे स्पष्ट होता है, यह व्यक्ति अपने को किसी व्यवस्था के अंतर्गत ही मानता है। हृदय की कैसी भी सुलगन 'प्रिय' की मर्यादा के विरुद्ध नहीं बोलती। यह तो हुई पुराने प्रेम की बात। अब एक ताजा घाव है। उसमें हृदय का अनुराग तो है ही, उसमें मानिनी का आक्रोश भी है। किन्तु फिर भी वह संयत है। अपने लिए रोना, और उसे निरावरण कर देना जैसे हमारे यहां कोई स्त्री अच्छा ही नहीं समझती :

लौ अकम्पित, वेदना पर
रात बन ढलती रही है,
स्नेह की आकुल विवशता
ओस-सी झरती रही है।
यह नहीं अनुराग मन का,
दीप का अभिमान ही तो जल रहा है।
—दीप बुझकर जल रहा है।
ज्योति की दुर्बल शिराएं
मृत्यु की सीमा गहन है,
साँस के अंगार पलते
राख का आधार पाकर!
वह क्षितिज का चांद ही तो
चाँदनी बन गल रहा है।
किस प्रवासी के हृदय का
दीप अब तक जल रहा है।

—कुमारी त्रिवेणी मिश्र

वेदना तो दीपशिखा-सी जलती है, परन्तु स्नेह की वह विवशता जो कि आकुल है ओस की भांति झरती है। क्यों? क्योंकि वह बहुत व्याप्त है। उसे किसी शीतलता ने पिघला दिया है। यह कोई 'नीर-भरी बदली' नहीं कि खेल-खालकर चल दी। इसको अपने ऊपर इतना विश्वास भी नहीं कि यह विवशता कभी सूर्य का प्रकाश झेल भी सकेगी या नहीं? इसे जब अपनी वेदना की शिराएं ही दुर्बल लगती हैं, तब इसे मृत्यु की सीमा का गहन लगना तो नितांत स्वाभाविक है। किन्तु एक बात जो सबसे अधिक

ध्यान देने की है, और जो टीस जगाने में समर्थ होकर कविता को हमारे सामने ले आती है वह इसमें आनेवाली चित्रात्मकता है। सांस के अंगार का राख का आधार पाकर पलना, ऐसी सुन्दर और पूर्ण कल्पना है कि हमें यहां पहले की वर्णित निर्बलता का रहस्य खुलता हुआ मिलता है। वह यह कि यहां सारे आलोक अपने को विसर्जित करके सबको उजागर करके ही अपनी साधना को पूर्ण कर रहे हैं। इसीलिए स्नेह की सत्ता क्षणिक हो सकती है, पर वह साधना जो कि अन्यों के हित लगी है, वह सीमित नहीं है, वह 'मैं' से परे है :

मैं बनकर तेरा परिधि-केन्द्र
तुझको अपने में लय कर लूँ
मेरे जीवन के हास-रुदन
तुझको नैनों में मैं भर लूँ।
पल में युग-सा, युग में पल-सा
कितना सुदूर, कितना समीप
मधु सिञ्चित कर दूँ पथ तेरा
यह अश्रु अश्रु हो रजत दीप !
इन दीपों पर पग धर पन्थी
आलोक लुटाता आ जा रे !
नीलम की नेह भरी प्याली
छू, सरस दिवाली कर जा रे !
अपने अधरों का दीपक मधु
मेरे अधरों पर ला धर दे
चिर लौ ले युग-युग जल जाऊँ
मुझको ही दीपाली कर दे।

—महीपाल

'मैं' ही अहं है। अब वह पुरुष की भटकन को नारी के स्नेह में केन्द्रित कर लेने की इच्छा है। यद्यपि जीवन के सुख और दुःख दोनों ही उसमें समन्वित हैं, किन्तु यहां केवल सुख को ही लेने की कोई ऐसी तृष्णा नहीं है। एक-एक आंसू को, आंख से बहते हुए चमकते आंसू को चांदी का दीपक बनाकर रखना, उन दीपकों पर पांव धरकर आने का आवाहन देना कि निरंतर आलोक फैलता चला जाए, और दिवाली कर देने की आकुल पुकार, सब उसी व्यक्तिमूलक 'अहं' के उजागर हो उठने के लक्षणों की ओर इंगित करना है। इतने में ही सीमा नहीं हो जाती। यह 'अहं' इतना 'पुलकंत' है कि वह 'काल की रेख पर मेख मारे' की भांति अपने को भी दीपक की लौ की भांति जलाकर दीपावली करने को समुद्यत है, क्योंकि उसको अपनी सत्ता की सुलगन का कोई भय नहीं, सुलगन भी हो तो ऐसी कि उससे किसीका लाभ तो हो ! अहं का यह

तिरस्कार नहीं, यह तो उसकी स्वीकृति है, और इस स्वीकृति के पीछे तो स्पर्धा भी है :

मैं ही शेष रहूँ—क्यों जग में,
मुझको भी कुछ पा लेने दो !
मधुर वेदना दीप सजा है,
तिल-तिल मन का स्नेह जला है !
बन साकार राग दीपक, वह—
आज लगाने आग चला है !
मन की पीर कहाँ जाए रे
कुछ तो ज्वाल बुझा लेने दो।

—निर्मला माथुर

सब ही कुछ न कुछ पा रहे हैं, और प्राप्ति सदैव इकाई के माध्यम से ही हो रही है, फिर हर एक की पूर्णता के समय यहीं 'मैं' ही क्यों रह जाए ? जिस प्रकार समस्त अंश अपनी सार्थकता चाहते हैं और उसके द्वारा अपने पूर्ण की बहुविध व्यापतका का बोध कराते हैं, उसी प्रकार पूर्ण को अपने से अलग करके नहीं देखा गया है, बल्कि अणु-अणु की अलग-अलग सत्ता को भी मानकर उन सबको एक सामरस्य में जोड़ा गया है। दीप तो आखिर वेदना का ही है, यदि वही न हो तो जो एक को दूसरे के समीप लाने का भाव है, वही जीवित क्योंकर रहे ? स्नेह जलने पर ही तो आलोक होता है। किन्तु अहं अचानक अपनी ही चेतना को कुण्ठित देखता है और जिस लौ का उसे गर्व था उसीको बुझा लेने की इच्छा करता है। यह क्यों ? इसका तात्पर्य स्पष्ट ही है कि वह वेदना का दीप अब आग लगाने को चल पड़ा है। उसका काम तो केवल उजाला फैलाना था। यदि वह अपनी मर्यादा का अतिक्रमण करता है तो 'अहं' को पूर्ण अधिकार है कि वह उसको बुझाने की पुकार उठाए। यह द्वैत नहीं है, यह विसर्जन है, यह अपनी सत्ता के स्वाभिमान की पहचान है। उसको छोड़कर अपनी विवशता का दैन्य दिखाना अहं को नहीं भाता। यही 'अहं' जब अपने को पूर्णतया सहज पाता है तब वह बहुत ही कोमल मीड़ की सी वेदना को छोड़ने लगता है।

बटोही जा रहा है, उसकी याद हृदय को सताती है :

चले जा रहे होगे तुम ओ दूर देश के वासी
चली रात भी, चले मेघ भी, चलने के अभ्यासी
भरा असाढ़, घटाएँ काली नभ में लटकी होंगी
चले जा रहे होगे तुम कुछ स्मृतियाँ अटकी होंगी
छोड़ उसाँस बैठ गाड़ी में दूर निहारा होगा
जब कि किसी अनजान दिशा ने तुम्हें पुकारा होगा
हहराती गाड़ी के डिब्बे में बिजली के नीचे
खोल पृष्ठ पोथी के तुमने होंगे निज दृग मींचे

सर सर सर पुरवैया लहकी होगी सुधि मँडराई
तभी बादलों ने छींटे दे होगी तपन बढ़ाई
रात खोल घन अलक-जाल काजल आँजे मदमाती
पागल सपनों की बाँहों में होगी तुम्हें सुलाती
दौड़ रही होंगी वृक्षों की पाँतें साथ तुम्हारे
चमकीले मुँह के जुगनू औ' झिल्ली की झनकारें

×

चलते रहो सचेत बटोही कभी मिलेगी मंजिल
मिल लेंगे हम ज्यों झोंके से लहराती मलयानिल।

—सुमित्रा कुमारी सिन्हा

उसाँस छोड़कर गाड़ी में बैठकर दूर तक देखना कितना स्वाभाविक चित्र है! ऐसा लगता है जैसे बादल झूल-झूल आते हैं। रेल भागी जा रही है। मन नहीं लग रहा है। बिजली के आलोक में किताब खोलकर पढ़ने का प्रयत्न हुआ किन्तु सब निष्फल। पुरवैया लहकी कि सुधि मँडरा आई। छींटे देकर तपन बढ़ाना जीवन की गहरी जानकारी है, जैसे पहली बौछार से धरती हांफकर गर्म सांस छोड़ती है, जैसे जलते तवे पर पड़े छींटों ने आफत ढहा दी हो। जुगनू ही काफी था, वह तो चमकता ही है, किन्तु यहां कवयित्री का मन तो जुगनू के साथ है, तभी वह कहती है कि वह जुगनू जिसका कि मुख ही चमकीला है, बाकी तो वह स्वयं भी अंधकार में डूबा हुआ है।

मंज़िल मिलेगी, विश्वास बहुत बड़ा है, और मिलन भी होगा, ऐसे अकस्मात् जैसे हवा का झोंका मिलता है। पर एक बात देखनी रह न जाए कि हवा के झोंके का मिलन बड़ा पूर्ण होता है, इतना अदृश्य होकर रोम-रोम को बींधनेवाला, पुर जानेवाला।

सुमित्रा कुमारी सिन्हा का काव्य मीरा की भांति निर्भय है, वह बैसाखियों का प्रयोग प्रायः नहीं के बराबर ही करता है। उसमें बड़ी लोच है, बड़ी मनुहार है। कसकन की तो बात ही क्या :

मेरे प्यार तनिक तो बोलो!
नभ के आँगन में तारापति मेघपरी से किलक रहा है
चाँदी की रातों की बातों का रस छल-छल छलक रहा है
मंदिर भीतर दीपक जलता, द्वार बन्द है आओ खोलो।

×

छूम छनन कर नाच उठे मेरी बेहोशी यह इतराकर
बोलो प्राण बिना बोले यह गीत चलें कैसे इठला कर
इस तपती जगती में बोलो, बोलो, मस्त पवन से डोलो!

×

दीर्घ मौन का आश्रय लेकर अन्तस् बीच छिपोगे कब तक
बिन बरसे मेघों से व्याकुल मंडराते डोलोगे कब तक
ओ मानी, मस्तानी तानों से दामिनि की कारा खोलो।

—सुमित्रा कुमारी सिन्हा

आनन्द की मस्ती, यौवन की हुमक सब हमें यहां मिलता है। प्रकृति के दम्पतियों का मानवीकरण उसमें काफी पाया जाता है । चंद्रमा मेघपरी से किलक रहा है, किलक शब्द जिस चंचल क्रीड़ा का पर्याय है, वह स्वतः ही लुभावनी कही जाती है और जो इस विषय के जानकार हैं, वे तो इसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण कहते हैं । चांदी की रातों का छल-छल छलकता रस चांदनी है, जैसे किसी प्याले में, नीलम के प्याले में चमकते फेन दिखाई दे रहे हों । मंदिर के भीतर दीपक जल रहा है, उसे खोलकर देखने की गुहार है । और जब 'वह' समीप आता है तब मानस नाचता है, बेहोशी, बेसुध तन्मयता, इतरा उठती है, अपने पर गर्व कर उठती है, अपनी सत्ता के हिंदोल को प्रतिध्वनित करती है, उसके चरणों में चपल आनन्द स्फुरित होकर बोलने लगता है । और फिर कठोरता क्यों ? 'वह' कैसा जो प्राण बनकर भी बोले नहीं। उसके बोले बिना गीतों से इठलाहट कैसे पैदा हो, वे चलें तो कैसे ? इस संसार में तो तपन छाई हुई है । उस वेदना की ऊष्मा में तो मस्त पवन की भांति डोलने की आवश्यकता है, वह पवन जो कि तृप्त कर दे ! वह दार्शनिकता किस काम की कि हृदय के भीतर ही लय कर लिया किन्तु अपनी अभिव्यक्ति कोई न की । मेघ तो वे ही ठीक हैं जो बरस जाते हैं, खाली घुमड़ने से क्या लाभ ! जल बरसे तो कुछ शीतलता तो हो, आनन्द का सिंचन तो प्राप्त हो !

और जहां यह आनन्द नहीं, जहां अभी प्रिय की ही पहचान नहीं, वहां कितनी उलझन है :

सखि ! मैं क्यों फिर अभिमान करूँ ?
पतझड़ की सूखी डालों पर
मेरा अलसित यौवन झूला
और मलय के निठुर झकोरों
से शूल भरा तन खेला
शाप - भरा एकाकी जीवन
ले क्या जग में मान धरूँ
तम में बुझते से प्राणों ने
अपनी पलकों से पथ जोया
ले धूमिल-सी छाया मैंने
रजकण में संसार सँजोया।

दो क्षण जीवन-दान लिए क्या
सुख-दुख की पहचान करूँ ?

—मनोरमा भटनागर

तृप्ति का पथ ही स्पष्ट नहीं, वहां तो भीतरी कचोट सूनापन ही उत्पन्न करेगी। दर्शन की नीरसता अपनी अभावात्मकता का ही तो प्रकटीकरण करेगी ! पथ जोया, परन्तु छाया धूमिल ही बनी रही। रजकण से तो सभी का संसार संजोया हुआ है। परंतु यहां तो बात ही दूसरी है। जीवन दो क्षणों का लग रहा है। उसमें क्या तो सुख, क्या दुःख ! इस सबकी वास्तविकता की जानकारी हो भी कैसे ? किंतु क्षण भी तो अपनी सार्थकता रखता है। सुख और दुःख किसी लंबी अवधि में नहीं रहते, वे किसी क्षण-विशेष की ही अनुभूति होते हैं। इसको कवयित्री जानती नहीं हो, ऐसा नहीं है। वहां तो असल में टीस ही दूसरी है कि जीवन एकाकी है, शाप-भरा है, उसपर इस संसार में मान भी किया जाए तो क्या ? मलय के झकोरे अपने-आप निष्ठुर लगेंगे ! सूर की गोपियों को भी तो मधुवन बुरा लगा था जो पूछ बैठी थीं कि 'ठाड़े क्यों न जरे ?' प्रकृत वेदना की समीचीन अभिव्यक्ति सहज और अकलुष नारी-हृयद ही से होती है, और नये युग में यह हमें अत्यंत मुखर रूप में प्राप्त होती है, क्योंकि नारी स्वतंत्र हो रही है, परंतु अपनी मर्यादा के अनुरूप अपना गौरव भी बनाए रखती है, और उसका दृष्टिकोण विकृत नहीं होता :

बाँध लूँ यदि प्रिय, तुम्हें मैं स्नेह के मृदु बंधनों में
तो न खुल सकतीं कभी फिर विश्व की दृढ़ शृंखलाएँ
मृदु उमंगों से रहा भर कौन रीते गान मेरे
सजल स्वप्निल गान मेरे।

जल रही पथ पर सकुचती दीप की निस्पंद बाती
तोड़ कर सूनी अमा के सांद्र तम की अर्गलाएं
सो रहे हैं आज सूनापन लिए मन-प्राण मेरे
विकल तन-मन प्राण मेरे।

आह फिर भी स्वप्न-सी मुझको बनी है नींद रानी
मैं अकेली ही रही चल नैश-नीराजन सजाए
हँस न पाते किंतु फिर भी तो थके वरदान मेरे
मधुर-से वरदान मेरे।

चाह के पागल स्वरों को ले उड़ी उच्छ्वास मेरी
एक नन्हीं, टिमटिमाती आस मुझको क्यों न भाए,
जब गए भर मौन वीणा में मधुर आह्वान मेरे
सिहरते आह्वान मेरे।

व्योम की धूमिल डगर से झाँकते नीरव सितारे
किंतु सीमित ही रहीं उनकी युगों से कामनाएँ
आज सीमा में मुझे भी बाँध लो अरमान मेरे
सकुचते अरमान मेरे ।

—शैल रस्तोगी

स्नेह के बंधनों में नारी पुरुष को बांधना चाहती है । क्योंकि पुरुष सदैव अपने को भारतीय चिंतन के त्यागमय पक्ष से प्रभावित होकर समाज से अलग कर लेने की चेष्टा किया करता है । आज नारी के रीते गानों में मृदुल उमंगें भरी जा रही हैं ।

प्रेम के इन गीतों के प्रति यदि कहा जाए कि ये नशीले हैं, ये सुला देनेवाले हैं, अतः अग्राह्य हैं, तो वह वास्तव में एक अत्युक्ति हो जाएगी । हमारा संघर्ष जितना बाह्य है, उतना ही अंतस्थ भी है । हमारे भौतिक से हमारे अंतस् का निर्माण हुआ करता है, तभी परिस्थिति बदल जाने पर विचारों में परिवर्तन भी आया करता है, किंतु पुराने विचार परिस्थिति बदलते ही नहीं बदल जाया करते । उनका प्रभाव धीरे-धीरे ही जाता है, बल्कि हम कह सकते हैं कि उनका तो विकास हुआ करता है । भारतीय चिंतन में नारी के अंतस् की कोमलता की स्वीकृति हमारे मध्यकालीन साहित्य में वैष्णव चिंतन के माध्यम से प्रविष्ट हुई । वह बौद्ध और सहजयानी सिद्धों तथा नाथों में नहीं है, किन्तु कबीर में है और परवर्तीकाल में तो है ही । सीमा और असीमा का द्वन्द्व वास्तव में बाह्य और अंतस्थ का उचित संतुलन बिठाने का ही प्रयत्न रहा है, क्योंकि जब तक सामंजस्य उपस्थित नहीं होता, विकास के पथ में गतिरोध उत्पन्न होता है । यही हमारे रागात्मक जीवन का प्राचीन अभावगत चेतस चिन्तन से संघर्ष है जिसमें अब रागपरकता की ओर अधिक उन्मुखता होती जा रही है ।

कोकिल ने पगली-सी होकर
स्नेह गान गाया कैसा ?
अलसाई-सी अरुण उषा में
मधुर राग छाया कैसा ?
मेरी हृदय विपञ्ची के क्यों
कंपित कंपित तार हुए ?
यह क्या, यह क्या आज शूल भी
सरस सुमन सुकुमार हुए ?
वह आता है, वह आता है,
ध्वनि अंतर में आती है,
सहसा सिहरा सा तन होता
छाती फूली जाती है

मैं उन्मुक्त बनूँगी
जीवन-साध आज पूरी होगी,
आकर मुझको आलिंगन में
बाँधेगा वह रसयोगी।
मेरे गीत, सजग हो जाओ
पहन कल्पना के परिधान
आज आ रहे हैं चिर निष्ठुर
मेरे प्रिय, मेरे भगवान !

—ईश्वरलाल शर्मा 'रत्नाकर'

ध्यान रहे यह रागपरकता है, इसे भोगपरकता नहीं कहना चाहिए। भोग की प्रवृत्ति सामंतीय समाज की देन थी, इसीलिए उसे निरन्तर बन्धन ही माना जाता है। रसयोगी के लिए उठती पुकार रस और योगी को साथ-साथ बांध लेती है। 'वही रस है, वही रस है', पुकारनेवाले ऋषि ने रस का प्रयोग आनन्द की अभिव्यक्ति में किया था या रस का तात्पर्य उसके संदर्भ में केवल 'जीवनद तरल' था, यह अभी निर्विवाद सिद्ध नहीं हुआ है, और इसका निर्णय देना भी बहुत कठिन है। नये काव्य में प्राचीन रूपकों को छोड़ा नहीं गया है। इसे हम प्रतिक्रियावादी स्वर नहीं कह सकते, क्योंकि वेदांत और वैष्णव चिन्तन भारतीय सहिष्णुता और प्रेम के दो प्रमुख मानववादी स्वर रहे हैं; ऐसे हैं वे दोनों, जो आज के विषण्ण युग के चिन्तन में भी दलित मानव को अपने मूल में छिपे आनन्द से स्फुरित करने की आंशिक शक्ति रखते हैं। उनके द्वारा एक नये दिव्य जीवन का अनाहत निनाद-सा सुनाई देता है :

प्रियतम, मम रोम-रोम, रन्ध्र-रन्ध्र स्वनित आज
मेरी चेतन-वीणा है गुञ्जित, क्वणित आज
रन्ध्र-रन्ध्र स्वनित आज।

सहसा मिल गये आज मेरे सब तार-तार
गूँजी झंकार, मधुर उमँगी मधु गान-धार
आज पूर्ण हुआ, प्राण, जीवन का स्वर-सिंगार
आरोहण, अवरोहण, श्रुति, लय, सब ध्वनित आज
रोम-रोम स्वनित आज।

वीणा के ककुभ[1] बने ये वर्त्तुल देशकाल
मेरा अस्तित्व बना इसका रसमय प्रवाल[2]

१. वीणा की तूंबी-एक ऊपर, एक नीचे
२. वीणा-दण्ड

प्रतिक्षण हिम का स्पंदन देता है नियति ताल
अनिल-अनल जल थल-बन झलक उठे स्वर-समाज।
रोम-रोम स्वनित आज।

गूँजी चेतन-वीणा, प्रकृति-नटी नाच उठी
सूने दिक्‌काल झुके; सिरजन की आँच उठी
अपनी इतिहास-कथा सकल सृष्टि लाँच उठी
अणु-अणु में, किरणों में रहे मधुर स्वर विराज।
रोम-रोम स्वनित आज।

—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

यह आनन्द की भावना नवीन है और हमें अन्यत्र शायद ही मिले। 'नवीन' ने इसमें अपने प्राणों को उंडेला है और इसीलिए इस गीत के शब्दों में जो ध्वन्यात्मकता है, वह इसके शब्दों से निकलते स्वरों से, उसके आरोहण-अवरोहण से अपना मिलन करती हुई चलती है। आधुनिक काव्य में वाच्य-ध्वनि के प्रति विशेष आकर्षण है, किन्तु वह सदैव दुरूह हो गई हो, ऐसा नहीं कहना चाहिए। अपने मन में किसी प्रकार का भी पूर्वाग्रह रख लेने पर हम आनन्द का अनुभव नहीं कर सकते। आनन्द की जिस चेतना में 'नवीन' ने दिक् और काल को झुकाया है, वही तो 'रोम-रोम को स्वनित' करने की सामर्थ्य रखती है।

नारी-भावना की शुचिता उसकी लज्जा के कारण अभी तक अधिक प्रभावोत्पादक मानी जाती रही है। भुक्त वासना का गलित पुष्प अब अतीत की शोभा हो गया है। अब तो हमें द्रिम-द्रिम करते बादलों में धड़कती धमनियों का संवेग दिखाई देता है:

प्रण मुझे तुमने दिया
मैं प्राण तुमको दे रही हूँ।
व्योम की इस क्षितिज-रेखा से अटल विश्वास संबल
डालती मैं धो निशा में भर पलक में स्वप्न का जल
क्यों न मेरे ज्वलित अधरों को बुझाती अश्रुधारा
मन मुझे तुमने दिया, मैं मान तुमको दे रही हूँ
अश्रु तुम देते मुझे मैं ध्यान तुमको दे रही हूँ
आग देते तुम मुझे मैं अर्घ्य तुमको दे रही हूँ
दे दिये पाषाण, मैं भगवान तुमको दे रही हूँ
तम मुझे तुमने दिया, आलोक तुमको दे रही हूँ
याद में तो दिन निकलता, रात आँखों में सुला ली
तुम हठीले हो अगर तो आज हूँ मैं भी निराली

अंक में भर प्रणय-परिमल, ले हृदय में एक आशा
शाप तुमने दे दिये, वरदान तुमको दे रही हूँ

—कुमारी राजशिवपुरी

'तुमने तो पाषाण दिये थे, मैं तो भगवान दे रही हूं,' कहकर राजशिवपुरी ने एक नया 'एप्रोच' उठाया है, वह समस्या के पास नये ढंग से ही पहुंचती है। यह स्पष्ट कर देता है कि प्रेम का यह संघर्ष जो कि अपनी अभिव्यक्ति को स्पष्ट न करके एक मर्यादा की दुरूहता में उलझ जाना चाहता है, वह वास्तव में लौकिक ही है, बल्कि उसमें प्रेमी हृदय को यह भी विश्वास है कि अनगढ़ को शिल्प की साधना से परमात्मा नहीं बनाया जा सकता, उसे तो आत्मतन्मयता की आवश्यकता है, और वह बड़ी विभोर आसक्ति से ही जन्म लेती है। यौवन के आंगन में खड़ी यह बाला शाप के बदले में वरदान देने की आकांक्षा रखती है। क्यों? क्योंकि उसने संस्कृति के अनेक स्पंदनों में यह अनुभव किया है कि मूलत: दान ही श्रेय का आधार है, वह प्रतिदान चाहना नहीं है। पत्थर देनेवाला तो वास्तव में शाप देता नहीं, भगवान बनानेवाला भले ही वरदान देता हो। फिर भी अपने संयम को उजागर करने में क्या वह मानिनी होकर अपने मन की ठेस से आहत होकर इतना भी नहीं कहेगी। इसके अतिरिक्त वह उनमें तो नहीं, जो एकपक्षीय प्रेम लिए जी रहे हैं :

तुम मुझे जानो न जानो
मैं तुम्हें पहचानती हूँ।
आज शूलों की डगर में,
फल फिर खिलने लगे हैं।
तुम इसे मानो न मानो
मैं इसे सुख मानती हूँ।
दूर से ही भर रहे हो
लालिमा अनुराग की तुम
तुम इसे जानो न जानो
मैं इसे निधि जानती हूँ।
कर दिया तुमने अचानक
हृदय मेरा फिर प्रकाशित
तुम मुझे मानो न मानो
मैं तुम्हें प्रिय मानती हूँ।

—कुमारी लता

यह दूरी है। बीच में एक नहीं, अनेक मंजिलों का फासला है। फारसी कविता में तो ऐसे भाव बहुत मिलते हैं। किन्तु इसमें जो एक अपनी लघुता की सत्ता-स्वीकृति का भाव है वह नितांत मौलिक है और भारतीय चिन्तन के अनुरूप ही है।

अपरिचय का नया प्रश्न है :

डूब जाये नाव तो कुछ दुख न होगा
किन्तु इतना जान लूँ तूफ़ान क्या है ?
है किनारे की न कुछ परवाह मुझको
किन्तु इस मँझधार की पहचान क्या है ?

—कुमारी राज

यहां हमें जीवन की गहराई में जाने की जिज्ञासा प्राप्त होती है। परन्तु अन्यत्र तो परिचय हो चुका है :

पहुँचूँगी जब द्वार तुम्हारे
लौट रहा होगा, समेटकर पंख, दिवस-पंछी मन मारे।

×

देख तुम्हारे गतिमय रथ को, दौड़ूँगी मैं व्याकुल होकर
पर न कंठ-स्वर फूट सकेंगे, रह जाऊँगी तुममें खोकर।

—सुमित्रा कुमारी सिन्हा

दिवस के पंछी का पंख समेटकर, मन मारकर लौटना—संध्या का विशद वर्णन एक ही पंक्ति में उपस्थित कर देता है। अभिव्यंजना के ये वैविध्य नयी कविता में विशेष रूप से उभर आए हैं। जिस प्रकार रीतिकालीन कविता में बाह्य वर्णन की गहराइयों में कवि उतरे थे, और बड़ी कारीगरी से एक-एक चीज़ का वर्णन करते थे, उसी भांति नयी कविता में मन के विविध रूपों का, उसकी अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। यह युग के परिवर्तन का ही प्रभाव है। और यह परिवर्तन इतनी जल्दी हो गया है कि कभी-कभी पुराने लोग उसे समझते नहीं। इसका कारण है कि वे उसे 'सूक्ष्म' और 'शून्य' में खोजते हैं, जबकि 'शून्य' और 'सूक्ष्म' का आधार उसमें बहुत ही कम लिया गया है। वह अधिक अस्पष्ट इसीलिए दीख पड़ती है कि उसे अस्पष्ट करके लिया जाता है।

यदि हम उसको वास्तविक रूप में देखें तो हमें अधिक स्वात्मानुभूति मिलती है :

तुम बन-बन मुझे मिटाते थे, मैं मिट-मिट आती पास रही
तुम जल-जल मुझे बुझाते थे, मैं बुझ-बुझ किये प्रकाश रही।

×

मैंने गाये थे गीत सभी जग के दुख-दर्द मिटाने को,
अब तो गा-गाकर सीख रही मैं अपना ही दिल बहलाना।

—कुमारी चंद्ररेखा वर्मा

विश्व की वेदना का अर्थ यहां समझ लिया है, तभी कवयित्री अपने दुःख को मिटाने की बात करती है। किन्तु वह क्या सचमुच दोनों में भेद कर सकती है ?

अर्ध जाग्रत बीन की सिमटी झनक-सी अनमनी हूँ,
ढूँढ़ने निकली कहाँ ढूँढूँ मगर मैं छोर मन का
है बिखरता, पर न गिरता क्यों कगारा खिन्न मन का
राज़ तन-मन से अलग अपनी उदासी का न पाती
दीप से औ' स्नेह से जैसे विलग होती न बाती
है मुझे बे-स्वाद अपने स्वप्न की मनुहार विह्वल
उड़ न पाता साथ जिसके यह उमसता मन अचंचल
आज अपने पर कढ़ी शमशीर जैसी मैं तनी हूँ,

—अंचल

अंचल की इस कविता में दोनों वेदनाओं का सामंजस्य हमें प्राप्त होता है। अंचल की कविताओं में एक कसक हुआ करती है, उस समय जबकि वह मन की बात लिखता है; उस समय नहीं या कम जब वह युगपरकता के चक्कर में लिखने को कुछ मजबूर-सा हो जाता है। अंचल की शब्दावली में एक लालित्य है जो न नरेन्द्र में है, न बच्चन में, वैसे उनके अपने गुण अलग हैं जिनपर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे। अंचल को मांसलवादी कहा गया है, किन्तु मांसलता वास्तव में छायावाद के सूक्ष्मवाद के प्रति विद्रोह है। अपने संदर्भ में वह विद्रोह बनकर आया था। वह हमें अन्यत्र भी मिलता है, भले ही उसके रूप में कुछ परिवर्तन रहा हो। रीतिकाल का देहवाद इस मांसलवाद से मूलत: अलग है क्योंकि वह इसकी भांति समाज की रूढ़ियों पर प्रहार करनेवाला नहीं था, जैसा यह है :

आज न सोने दूँगी बालम
मेरे अधिक निदारे बालम !
अर्ध निशा है, घिरी अँधेरी, जगर-मगर निशि गूँज रही है
चंचल हैं तारे, अंचल मन, अग जग मदिरा छलक रही है
यौवन सरिता उमड़ पड़ी है
मधु की बेला आई बालम !
आज अभी से सो जाओगे अभी नहीं सोए हैं तारे
उत्सुक हैं सब सुमन सेज के केवल तुमही अधिक निदारे
खोलो लोचन प्राण पियारे
मानो, बलि-बलि जाऊँ, बालम !
कलि-कलि के मुकुलित सपने ले घिर आए सौरभ के बादल
लाए कुसुम-मधुप के चुंबन बल्लरियों की रति-गति चंचल
तरुओं के आलिंगन विह्वल
मानो, आज हठीले बालम !

हरसिंगार जो झर-झर झरते कुसुम-राशि से सेज मनोहर
सौरभ की नन्हीं बूँदों से फल गिराते पुलकित तन पर
रग-रग में कुछ अकुलाहट भर
पुलक-पुलक कर आकुल बालम !
आज विश्व से छीन तुम्हें प्रिय, निज वक्षस्थल में भर लूँगी
मृदुल गोल गोरी बाँहों में कंपित अंगों में कस लूँगी
फलों के तन में भर लूँगी
अलि से रैन-निदारे बालम ।

—नरेन्द्र

नरेन्द्र की यह कविता अत्यन्त प्रसिद्ध हुई, क्योंकि इसमें लोगों को बहुत दिनों के बाद प्रेम का एक सजीव चित्र मिला । हमारी परम्पराओं में न जाने कितने स्वर बिलमाए हुए हैं । उनके बीज न जाने किस रूप में अंकुरित हो उठते हैं, यह कोई नहीं बता सकता । यहां कोई परकीया का प्रेम नहीं, यहां स्वकीया की छुईमुई का लाज-भरा वातावरण नहीं । स्त्री की वासना की स्वीकृति और उसको समाज में स्वस्थ स्थान प्रदान किया गया है और भले ही यह अनजाने हुआ, किन्तु स्त्री-भावना को प्रमुखता अवश्य ही प्राप्त हुई । इसी भाव को जब एक स्त्री प्रकट करती है तब वह कल्पना की बांहों का आलिंगन प्रकट करती है, यद्यपि कल्पना की भुजाओं का आलिंगन तो हमारे यहां कालिदास के युग से चलता चला आ रहा है । वेदना और मिलन इन दोनों का भेद यहां नया रूप रखता है :

तुम्हें कल्पना की बाँहों में
पुलकित हहर-हहर भर लूँगी
मेरे देव ! तुम्हारी निधियाँ
तुमको ही अर्पित कर दूँगी,
मैं सुंदर सुधियों, सपनों में
हँस-हँसकर अभिसार करूँगी ।
प्रिय, पीड़ा है देन तुम्हारी
मैं पीड़ा को प्यार करूँगी ।
पीड़ा से मेरे प्राणों की
सीमा का विस्तार हुआ है
पीड़ा में तुम मिले मुझे जब
पीड़ित जन से प्यार हुआ है,
मैं अपनी सीमा में बंदी
यह सारा संसार करूँगी ।

—श्यामकुमारी सिंह

संयोग की विप्रलंभ में अनुभूति, विरह की एक विशेष दशा में प्रारम्भ होती है। उस समय व्यक्ति अपने-आपको खो देता है। तभी तो हमें 'हहर-हहर' का परिचय मिलता है, जिसमें विभोरता ही अपनेको सबसे अधिक मुखर करती है। देव प्रियतम है। वह वैसे परमात्मा भी है। किन्तु हमारा भारतीय परमात्मा हमारे सुन्दरतर की सुन्दरतम अभिव्यक्ति का पर्याय-मात्र है। जब उसे सगुण रूप में नहीं लिया जाता, जब उसे अवतारों से अलग करके देखा जाता है, तब वह कबीरवाला दुलहिनी का दूल्हा बन जाता है। किन्तु छायावाद का प्रिय कबीर के प्रिय की भूमि की पूर्व-पीठिका रखकर भी वास्तव में अलग ही था। परवर्तीकाल में तो वह एक कविसत्य बन गया। संभवतः इस परिभाषा से कुछ लोग विरोध करें, किन्तु इतना याद रखना आवश्यक है, वह कविसत्य होकर भी कोई विकृति का रंगस्थल नहीं बना। सुन्दर कहकर किसीको पूज्य बनाना और फिर प्रेम करना क्या दोषारोपण का स्थल बन सकता है! वह सूर की राधा की विह्वलता तो नहीं रखता, किन्तु उसमें 'पीड़ित जन से प्यार' तो अवश्य पैदा हुआ है। हरिऔध की राधा में यह परदुःखकातरता हमने देखी है, यह जायसी में भी थी, किन्तु नये युग की प्रियतमा शरीर को न तो भूलती है, न अपने को भोग-साधन का माध्यम-मात्र समझती है। वह सहज है, प्रकृति में अपने स्थान को जानती है, अविकृत है, और फिर उसे अपने मानवी होने की चेतना का आभास भी प्राप्त हो चुका है। यही नहीं, अपनी अभिव्यक्ति में स्वयं पुरुष ने भी यही कहा है :

मैं नहीं बोली कि वे बोला किये
हृदय में बेचैन मुख भोला किये
वे हृदय ले तौल पर तौला किये।
सुगढ़, मन पर गर्व को तौला किये।
झूलती, प्रभु, बोल का डोला किये।
आज चुंबन का प्रलोभन
स्नेह की जाली न डाली
नहीं मुझ पर छोड़ने को
प्रेम की नागिन निकाली
सजनि, मेरे प्राण का झोला किये।
डालते थे प्यार को वे क्रोध का गोला किये।
समय सूली-सा टँगा था
बोल खूँटी से लगे थे
मरण का त्यौहार था सखि
भाग जीवन-धन जगे थे
रूप के अभिमान में जी का ज़हर घोला किये।

—माखनलाल चतुर्वेदी

मन पर गर्व तो तोला, परन्तु साधना तो विचलित नहीं हुई। केवल देह ने समर्पण नहीं किया, प्रेम के विष ने सब-कुछ फूंक दिया, मान के बंधन अपने-आप ही बंध गए। समय रुक गया, मानो वह विरोध में आ गया। क्यों नहीं आता वह? वह तो अपनी चपेट में सब-कुछ लिए जाता है और यहां उसको निर्बल बना दिया गया, क्योंकि यहां क्षण की गहराई ने सब-कुछ माप दिया। मृत्यु का भय जाता रहा। यदि कोई व्यवधान था तो यह कि तन्मयता की पूर्णता में अभी बाहरी आसक्ति की बाधा शेष रह गई थी। किन्तु उसमें भी बुराई क्या थी? रूप की अनुभूति तो सुन्दर की अनुभूति थी। उसमें दोष था अवश्य, वह यह कि उसका अभिमान हो गया! अभिमान तो रुकावट पैदा करता है!

किन्तु व्यवधान से भी आगे की अथ-इति अब हमें यहां मिलती है, जहां प्रेम अपने को किसीपर निर्भर नहीं रखता, जहां एक पक्ष का आश्रय अपने लिए आलंबन की और अपेक्षा नहीं करता, स्वयं ही समर्थ हो जाता है:

सखि, उनको पाषाण न कहना
इन चंचल नयनों से छिपकर
वह मेरे मन में रहते हैं
मेरी सिसकी, मेरी आहें
सब चुपके-चुपके सहते हैं
तुम मेरे नयनों से छिपने को उनका अभिमान न कहना!
वह मेरे नयनों की उज्ज्वल
एक बूँद से करुण सजल हैं
वह मेरे प्राणों के झिलमिल
दीपक-से सस्नेह विकल हैं
तुम मेरे प्राणों में रहने वाले को निष्प्राण न कहना!
वह मेरी आशा-से भोले
वह अभिलाषा-से अल्हड़ हैं
वह मेरी आहों-से चंचल
वह मेरी साधों-से दृढ़ हैं
तुम मेरे प्रति नीरवता को उनका निष्ठुर मान न कहना!
वह मेरी पीड़ा-से मादक
वह मेरी सुधि-से कोमल हैं
वह मेरे सपनों-से सुन्दर
वह मेरे मन-से निश्छल हैं
तुम मेरे संसृति के चिर पहचाने को अनजान न कहना!

—कुसुम कुमारी सिन्हा

'वह' तो सब-कुछ हैं, क्या फिर भी उन्हें हम अरूप कह सकते हैं ? छायावाद में इतनी शक्ति नहीं थी। वहां तो बहुत ज़ोर मारने पर कहा गया था कि हे देव ! तेरी छाया से ही मेरा मिलाप हो जाए। यह तो दूरी-दूरी का सवाल है। जितने हम मानसिक बंधनों को छोड़ते जाएंगे उतने ही समीप आते जाएंगे। यह जो अरूप की ओर उन्मुख कविताएं हैं, वे क्यों अच्छी लगती हैं ? क्योंकि वे स्वयं प्रत्येक के 'किसी रूप' से तादात्म्य कर लेती हैं। दर्शन की गूढ ग्रंथियों को भी भारत में बड़ा स्पष्ट किया गया था और पौराणिक मूर्त-साहाय्य ने उसमें योग दिया है, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है ! हमारे आलंबन तो बदलते जाते हैं। शून्य-भीत्ति पर चित्र तो सोलहवीं शती में ही लिखे जाने प्रारंभ हो गए थे, उनका यदि विकास होता भी गया तो क्या आश्चर्य ? कुमुदिनी जोशी ने तो वेदना को एकांगी नहीं रखा :

जग का ऋण आज चुका दूँगी,
द्युति के मिस जग ने आग जला
शलभों का भोला हृदय छला
झुलसा कोई, पर दीप हँसा
अब मैं हँस-हँस निज हाथों से
वह दीपक आज बुझा दूँगी।
गीतों में भर-भर आँसू कण
जो पाये थे जग से क्षण-क्षण
ये गीले गान सँजो स्वर में
लौटाऊँगी मैं अश्रु सभी
पाहन को आज रुला दूँगी।

—कुमारी कुमुदिनी जोशी

जगत् का ऋण है, उसे चुकाना ही होगा। अभी तक तो लोक में ऐसी पद्धति अपनाई गई है कि आलोक करने को जलाई हुई अग्नि ने भोले हृदयों को बार-बार छला है। कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति है, जो हमारे समाज के विभिन्न रूपों पर एकसाथ प्रहार करती है। कवयित्री उस दीपक को हंस-हंसकर बुझाना चाहती है, क्योंकि वह दीप असल में दूर की झिलमिल पैदा करके जलन ही भरता है। उस दीपक ने सदैव सबको झुलसाया है। उसने बड़े ऊंचे आदर्शों की छलना उत्पन्न की है, किन्तु एक बार भी उसने अपने को स्पर्श तक नहीं होने दिया। नयी चेतना अब जलन को अच्छा नहीं समझती। वहां करुणा है, करुणा वह नहीं जो 'दुःख के अभाव' में मन बहलाव के लिए जन्म लेती है, बल्कि वह जो कि स्नेह से गीली है, जिसमें अश्रु हैं। अश्रु का नाता तो बड़ा गहरा होता है। वह सब वेदना-लोक ने पैदा की है, लोक के मंगल के लिए ही उसकी आवश्यकता भी है। तभी एक अतिसाहस मन में जानता है कि मैं पत्थर को रुला दूंगी। आज तक पत्थर ने रुलाया है, क्योंकि पत्थर से जितना प्रेम

किया गया है, वह उसके लिए बहुत अधिक था। उसपर पूर्ण विश्वास ही तो शलभ को जलाता है। देवराज दिनेश की उदासीनता भावहीनता में इसीलिए परिवर्तित होते हुए दिखाई देती है कि उसमें उसीसे पूछा है कि वह क्या लिखे, जबकि लिखना भी उसीको है। दूरी का कोई अलगाव कैसे मिटेगा भला ?

क्या लिखूँ तुम ही बता दो
वेदना मेरी हिला दो
आज मेरे स्वप्न में आ
    मीत मुस्काते नहीं हैं
    भाव कुछ आते नहीं हैं।
शांति-सी छाई निलय में
स्तब्धता छाई हृदय में
आज हूँ मैं मौन, लोचन
    अश्रु भर लाते नहीं हैं।
है न जीवन-वाद्य में स्वर
अँगुलियाँ चलतीं ठहर कर
आज गायक आ यहाँ पर
    गीत कुछ गाते नहीं हैं।

—देवराज दिनेश

अभी वेदना हिली जो नहीं है। जब वह हिल उठेगी तो फिर प्रश्न ही बाकी नहीं रहेगा। किन्तु फिर व्याकुलता भी तो नहीं है। जैसे लंबी मंज़िल चलकर मन हार गया है। अब शांति-सी छा गई है। इस मौन को भंग नहीं होना है, तभी आंसू भी नहीं आते, किन्तु फिर जीवन इतना रिक्त क्यों हो गया है ?

यह अनासक्ति नहीं, पराजय है। पराजय तो है, परन्तु वह मन को कहीं न कहीं अवश्य कचोट उठती है। क्यों ? इसका उत्तर है कि यह वास्तव में शांति नहीं है। यह नये स्वरों की खोज है, यह नये क्षितिज का अन्वेषण करने के पहले की निस्तब्धता है। इसका साहित्य में अपना महत्त्व है। इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

पुरुष की नारी-भावना का तो अंत प्राप्त होता है, किन्तु नारी में तो वह उसकी आत्मा का स्वर है। उसका अन्त ही कहां ? देह ही तो अपनी निर्माणाकृति के अनुरूप अपना विशेष चिंतन ढोता है, उसे क्या सहज झुठाया जा सकता है ? नहीं। वह दिगंतर में एकरस है, वह अचेतन में स्पंदन है, वह असंतुलित में सम्यक् का ही प्रकारांतर है। तभी हमें रसधारा में एक नई तल्लीनता प्राप्त होती है :

बरस रही सखि ! सावन की यह
रिमझिम-रिमझिम मन्द फुहार
विहँस पड़ी मेरी कवि-कलिका
पूरी कर अपनी मनुहार
डोल-डोल कर मृदुल लताएँ
वृक्षों से क्यों आज सहास ?
कम्पित-लज्जित मिलने दौड़ीं
परिरम्भण करने सोल्लास ?
सघन घनों के आँसू छलके
विद्युत् चमक पड़ी अभिराम
पीता जाता धरती का क्यों
आँचल अश्रु-कोष अविराम ?
धरती की यह अमिट पिपासा
यह अभिभूत हृदय की प्यास
किस दुख से यों बनी सखी री
चिर नूतन, चिर कसक, उदास ?

—हीरादेवी चतुर्वेदी

यह हृदय की, हारे हुए हृदय-मात्र की प्यास नहीं निकली न ? यह तो धरती की प्यास है। और वह भी अमिट प्यास ! धरती भी नारी है। यह वेदना नहीं है, यह गति की कसमस है। इसीकी अपूर्ति उदासी लाती है, कसक को जन्म देती है। वह चिरंतन है। वह सदैव रहेगी। वह उसका अपूर्व मातृत्व है, जो उसके भीतर सदैव सन्निहित है। वह कभी उससे अलग नहीं होगा। यह सदैव स्मरण रखना होगा कि नारी प्रेयसी कभी नहीं होती। प्रिय का एकांगी दृष्टिकोण ही उसे प्रेयसी की अधूरी संज्ञा देता है। नारी का जीवन खण्डों में नहीं है, वह तो बाल्यावस्था से ही निर्माण की ओर अपनी आस्था रखती है और इसीलिए उसने जीवन के कठोरतम आघातों को पुरुष से भी अधिक सफलता से सहन किया है :

चल रहा पथ पर अजल जो
फिर जटिल-आसान कैसा !
भक्त औ' भगवान में फिर
शाप या वरदान कैसा !

×

मैं भुलाये भोर-सी हूँ
याद की मैं यामिनी हूँ
मैं पलक पर स्वप्न-सी
लेकिन हृदय की स्वामिनी हूँ
तुम रहो चाहे जहाँ पर
मैं गगन की चाँदनी हूँ
मैं तुम्हारी प्राण-बंसी
में समाई रागिनी हूँ
फूल को रख शूल को ले
मैं बनाने मीत आई
आज कोरे पृष्ठ पर लिख
कर बिदा के गीत लाई।

—चन्द्रमुखी ओझा 'सुधा'

वह अपने को पुरुष से अलग कभी नहीं समझती। पहले तो लता के रूप में वह वृक्ष की ओर विभ्रम और लज्जा से आती है, और फिर वह कहती है कि वह उसमें समा गई है। वह अपने को दासी नहीं समझती, क्योंकि हृदय की स्वामिनी होने का अभिमान उसे है, इसे वह अपना एकांत अधिकार समझती है। यह तो पथ है, इसपर तो यात्रा हो रही है। न पथ के लिए पाथेय की आकांक्षा है, न संबल की, फिर इसमें सुख-दुःख का प्रश्न ही क्या? भक्त और भगवान तो एक हैं। एक की श्रद्धा ही दूसरे की महत्ता को प्रतिपादित करती है। स्वयं ही जब सुख का लोभ छोड़ दिया है और कष्ट सहने की शक्ति का उपार्जन कर लिया है, तब फिर डर क्या? जीवन का पृष्ठ अलिखित था। उसपर गीत तो विदा का लिख लिया है। तब मिलन की तृष्णा के पीछे कौन अपने को भुलाए-भुलाए फिरे?

अंचल नहीं भुलाता, परन्तु उसकी वेदना उसे भुलाती है। अंचल का लालित्य चित्रों का सृजन नहीं करता, बल्कि रंगों का सृजन करता है। उसके एक-एक रंग में जीवंत-से कई-कई चित्र खड़े हो जाते हैं। जिस प्रकार अपने यहां, चित्रों में, राग-रागिनियां बांधने के वर्णन किए गए हैं, उसी प्रकार उसके भाव भी बड़े मर्मस्पर्शी चित्र बन सकते हैं। उसकी भूल पूछती है:

कौन नूतन गीत गा मलयज समीरण को रिझाये
कौन चम्पक की सुनहली प्यालियों में रस पिलाये?
बोलती श्यामा—अँधेरे में विरह की पीर भरती
तुम न आये—गन्ध विह्वल फागुनी रजनी सिहरती

यह अनिद्रित चाँदनी कब तक निहारे पथ तुम्हारा
फुल्ल कुसुमित वनलताओं ने तुम्हें कितना पुकारा
तुम न आये बीतते जाते चले मधु के दिवस भी

—अंचल

कितनी व्याकुल प्रतीक्षा है ! फागुनी गंध में सिहरती रजनी और फिर धीरे से कहना कि तुम न आए, मानो श्यामा की विरहिन पीर को सौगुना कर देती है। ऐसी तन्मयता हो तो भूलना क्या सहज है !

लाज रक्तिम गात पीली ओढ़नी में कसमसाता
जाफरानी प्यार मन के रेशमी पद है उठाता
है रही जाती दबी झंकार नूपुर कंकणों की
है रही जाती रुकी मनुहार छवि के बंधनों की
उल्लसित पुलकित बकुल का कुंज सुधियों से जड़ा-सा
शून्यता के मंद मर्मर में शिथिल लिपटा पड़ा-सा
तुम न आये बीतते जाते, चले मधु के दिवस भी

—अंचल

प्रेमी की चपलता स्थिर हो गई है, क्योंकि प्रेमिका की मनुहार क्या है, वहां तो छवि के बंधनों की मनुहार ही रुक गई है ! जिन नूपुर-कंकणों में मुखरित उल्लास था, वे आज चुप हो गए हैं। शून्यता का मंद-मर्मर कानों में धीमी-धीमी आवाज़ करता है, शिथिल करता है, अपने में लपेट लेता है। सारा मधु ही जो बीता जा रहा है। प्यार जाफरानी है, मन के पद रेशमी हैं। गात कसमसाता है। यह यदि मांसलवाद के नाम पर अस्पृश्य है, तो इतना सुन्दर वर्णन भी दुर्लभ है। पहले जाकर कविकुलगुरु कालिदास का कुमारसंभव फाड़ दो, फिर इस कविता को बुरा कहना अवश्य संगत हो जाएगा। लेकिन संस्कृत के सौंदर्य ने कहा है कि मनुष्य के जीवन की सर्वांगीण अभिव्यक्त में मेरा भी अपना स्थान है। मैं विद्रोही हूं, किन्तु मैं चित् ही नहीं, रज भी हूं। मैं ही हूं जो कि वेदना की अनुभूति बनकर उपस्थित हुआ करता हूं :

वेदना के नयन गीले।
नभ शिविर में गूँजती उल्लास की उर्मिल विहागरि,
अप्सरा की वेणियों में गूँथती तारक विभावरि।
क्षितिज को छू-छू थिरकते चंद्रिका के हाथ पीले।
दूर नीलम के कगारे पर अलस है शिशु सबेरा,
सुप्त है वन, निखिल मर्मर, मुकुलिका का प्राण डेरा।
मत्त मधुपों के अधर पर सो गये हैं स्वर नशीले।
रश्मि के कलधौत मण्डल पर थिरकतीं उडुप्रियाएँ,
गगन पथ पर पग सम्हल कर रख रहीं नर्त्तित कलाएँ।

ज्योति की मृदु अंगना के मलय चर्चित अलक ढीले।
जागरण औ' सुप्ति में ही हास अश्रु विषाद नश्वर,
ऐन्द्रजालिक मूर्च्छना में वेदना भी कार्य तत्पर।
नियति की जादू-छड़ी छू बज रहे नित स्वर सुरीले।
वेदना के नयन गीले।

—शकुन्तला शर्मा

वेदना ही प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करती है। वही हमें अत्यंत सलौने रूपों की झलक दिखाती है। शकुन्तला शर्मा का प्रकृति-चित्रण मन के नयनों में से दिखाई देता है और यद्यपि वह वेदना से भीगे नयनों में प्रतिबिंबित होता है, किंतु हम इसमें सम्मोहन देखते हैं, इसमें पीड़ा नहीं मिलती। चाँदनी के हाथ क्षितिज को छूने लगते हैं। नीलम के कगारे पर दूर कहीं सबेरा शिशु की भाँति अबोध और कोमल-सा सो रहा है। वन सोया हुआ है, किंतु सब ओर एक लुभावना मर्मर सुनाई दे रहा है। गीत, नशीले गीत भौंरों के होंठों पर ही सो गए हैं, जैसे वे उनींदें-उनींदे-से ऊंघ गए हों। जागरण में हास है, सुप्ति में अश्रु-विषाद है, परंतु हैं वे दोनों ही नश्वर। ऐसा लगता है, एक जादू-सा छा रहा है और उस जादू में भी वेदना अपना काम करती जा रही है। नियति की जादू-छड़ी छूने के कारण ही एक मीठा संगीत उठ रहा है। यह है वेदना जो सबको अपनी अनवरत गति में देख रही है। यहां नियति वह नहीं जो हताश करती है, यहां नियति प्रकृति का नियम है, क्योंकि हताशा में सौंदर्य का सृजन नहीं हुआ करता। वेदना तो मन की वस्तु है, वह दूसरों की रूपश्री का यहां हरण नहीं करती। किन्तु यही वेदना जब सबल हो उठती है तब हृदय पुकारता है :

ले जा अपनी याद लिये जा !
जाने वाले साथ सिरहते अंगों की फरियाद लिये जा,
ले जा अपनी याद लिये जा !
जीवन भर बेचैन हृदय पर उठ आरे-सी चलने वाली
जीवन भर गलते पारे-सी तन पर, मन पर ढलने वाली
रोम-रोम में रख देती जो बिजली की ज्वलंत चिनगारी
नस-नस में फूंका करती जो अति असह्य झंकार तुम्हारी
अपनी प्रतिहिंसक सुधि का प्रतिशोधी दग्ध निनाद लिये जा
ले जा अपनी याद लिये जा।

—अंचल

याद को वापस करनेवाला हृदय न जाने कितने विषाद की घड़ियों को बिता-कर अब घबरा उठा है। क्या सचमुच वह उसे लौटाना चाहता है ? नहीं। यह तो लगाव है और लगाव बोल रहा है। दर्द की इन्तहा भी तो है। दिल पर आरा चल रहा है। समाज की विषमता का हरण प्रेम की निर्दयता का हरण तो नहीं कर देगा।

भले ही उसका रूप बदल जाए, परिस्थितियां बदल जाएं। मैंने कहा था अंचल में चित्रों के रंग हैं। गलता पारा जब आरे के बाद दीखता है, तब क्या उसकी चमक से क्षण-भर को आंखें नहीं मुंद जातीं? रोम-रोम में वह याद बिजली की-सी ज्वलंत चिनगारी रख देती है। कालिदास ने बिजली का वर्णन किया है—'विद्युद्दामस्फुरित चकितं' इत्यादि, जिसमें पलटकर कौंधती बिजली की झाईं-सी झमक जाती है, और वही हमें अंचल में कौंधियाती मिलती है। झंकार का फूंका जाना प्रकट करता है कि ये नसें किसी वंशी से कम नहीं, क्योंकि वही तो स्वर को अपने भीतर प्रतिध्वनित करने की शक्ति रखती है। जो पहले ही कट चुकी है, जिसकी लालसा की अपनी अंतर्भुक्ति प्रिय की चेतना में समर्पित होने में हो चुकी है, वही तो वंशी बन गया है!

अश्रु जड़ित सपनों से मंडित कोई कातर स्वर न सुनूँ मैं
किसी अकुंठित अभिमानी मन का रीता मर्मर न गुनूँ मैं
सुंदरता की आग लगा देनेवाली ममता न बुनूँ मैं
छलक रही लावण्य और यौवन की वे झलकें न चुनूँ मैं
ले जा अपने साथ असह विह्वलता के संवाद लिए जा
ले जा अपनी याद लिए जा!

—अंचल

यह तो नया विकास है। रूप की उस मादकता का प्रतिरोध है जो कि आकर अब रास्ता रोकने लगी है! अभिमानी को कुंठा नहीं होनी चाहिए। सुन्दरता यदि आग लगाती है, तो उसकी ममता को मैं क्यों बुनूं? मैं तो निरावरण ही भला हूं। लावण्य और यौवन की वे झलकें मैं क्यों बैठकर धीरे-धीरे चुनूं जो मुझे सताती हैं। असह्य विह्वलता मुझे नहीं चाहिए।

मन की गंगा की धारा में पूजा के वे फूल बहें मत
व्याकुल काली-काली आँखों के पुरनम संकेत कहें मत
मेरी आकांक्षा की कलियाँ अवसादी हिमपात सहें मत
मेरी भूख-प्यास के गाने मेरे दिल के पास रहें मत
तू जा तो अपने बिछोह का अंगीभूत विषाद लिए जा
ले जा अपनी याद लिए जा!
जीवन व्यापी तृष्णा औ' आकुलता की बुनियाद लिए जा,
ले जा अपनी याद लिए जा!

—अंचल

पूजा के फूलों को बहने मत दे। तू जा, भले ही जा परन्तु तेरे बिछोह का जो अंगीभूत विवाद है, विषाद तो उसका अंग ही हो गया है; एक शब्द अंगीभूत में कितनी शक्ति है, वह जोकि भीतर रस बनकर रम गया है! वह भी मुझे नहीं चाहिए। वास्तव में यह कातरता तो यों है कि जीवनव्यापी तृष्णा और आकुलता की बुनियाद

तेरी याद में है। उसे मैं क्यों रखूं ? शेली ने लिखा भी है कि हे प्रेम ! तू सबल हृदय को पहले छोड़ जाता है, फिर निर्बल हृदय को क्यों झकझोरा करता है ! एक दिन ऐसा आएगा जब हे प्रेम ! तुझे अपना हर एक नीड़ उजड़ा हुआ मिलेगा !

अंचल की तड़प हिन्दी में तो अपूर्व है। ऐसा लगता है कि कवि विशेष अवस्थाओं में अपने-आपको भूल जाता है। यदि हम कवि की वास्तविकता न देखकर, अपनेको उसपर लादें, तो क्या हम उसे पहचान सकते हैं ? नहीं। हमें तो उसके वेदना-पक्ष को देखना ही होगा। अज्ञेय कहता है :

विफले ! विश्वक्षेत्र में खो जा !
पुञ्जीभूते ! प्रणयवेदने !
आज विस्मृता हो जा !
या है प्रेम ? घनीभूता
इच्छाओं की ज्वाला है !
क्या है विरह ? प्रेम की बुझती
राख-भरा प्याला है !
तू ! जाने किस-किस के जीवन-
विच्छेदों की पीड़ा—
नभ के कोने कोने में छा
बीज व्यथा का बो जा !

×

अरी हृदय की तृषित हूक !
उन्मत्त वासना - हाला
क्यों उठती है सिहर-सिहर,
आ, मम प्राणों में सो जा !

—अज्ञेय

अज्ञेय उसे प्राणों में ही सुलाता है, परन्तु क्यों ? क्योंकि विश्व का क्षेत्र बहुत विशद है, उसमें लय हो जाना ही उदात्त भावना है :

है प्रेम जहाँ सात्त्विक, अनन्य
वह मिलता ही है उसे धन्य

×

बँध गया प्रेम धागे में मन
बह चला अबाधित शुचि जीवन।

—शकुन्तलाकुमारी 'रेणु'

जीवन प्रेम ही से पवित्र होता है। हम नये काव्य में सत्य को देखते हैं, किंतु शिव और सुन्दर को क्या भुलाया जा सकता है ! यह सत्य है कि इन अभिव्यक्तियों

में छायावादी शैली का असर अभी तक बना हुआ है, और इसीलिए साधारण पाठक कभी-कभी इनको समझने में अटक जाता है, किंतु यदि धैर्य से देखा जाए तो नई कविता जो संक्रांतिकालीन है, वह अपने सामूहिक प्रभावों में बड़ी सशक्त है। और उसकी शक्ति का कारण है उसकी मुखरता। दीवानी तो मीरा भी थी, परन्तु मीरा का प्रेम एक विशेष तन्मयता का था, जिसमें मीरा की विद्रोहिणी नारी ने बंधन तो तोड़े थे, परन्तु सबको समान शक्ति नहीं थी। अब नया युग कह रहा है :

मैंने आँसू से कितने दीप जलाये,
तुम क्या जानो
पल गिन-गिन पंथ निहारा
नयनों के दीप जलाकर,
मन की खिलती आशा से
नव बन्दनवार सजाकर
मैंने जग-जग कर कितने कल्प बिताये
तुम क्या जानो

×

तुमने समझा, भावुक हूँ
अल्हड़ हूँ, मोहमयी भी
बिन कारण हँस-रो देती
शैशव की स्वप्नमयी-सी
इन सपनों में कितने अवसाद छिपाये
तुम क्या जानो

—कुसुमकुमारी सिन्हा

कितनी वेदना तो यह नारी का हृदय पी चुका है। नयी पीढ़ी को नया संदेश चाहिए और उसकी भूमिका अभी से तैयार भी होने लगी है, तभी तो कुसुमकुमारी अन्यत्र कहती है कि

'तुम इतना प्यार न करना कि किसीका मौन बरबस बोल उठे। विस्मृति को सुधियां तड़पा दें और अपना सब कुछ पराया लगने लगे। हिमगिरि तो बूंद-बूंद हो जाए पिघलकर, मनुहारें मान करती रहें, किसीका गर्व बलि-बलि जाए।'

अंत में हम कह सकते हैं कि नारी-भावना मूलतः प्रेम के आधार पर ही जीवित है और उसने हृदय की कोमलता के जिस पक्ष को लिया है, वह रूप-सृजन करने में समर्थ हुई है। यह सत्य है कि इसमें कहीं-कहीं पलायन के स्वर उठे हैं, रहस्यवादी शब्द-जालों का प्रयोग हुआ है, किंतु वह छायावाद की विरासत भी तो है और है उसपर समाज के प्रतिबंधों की छाया। बड़ी गहरी गड़ी शृंखला थी। उसके लोहे ने कलाई पर बड़ा गहरा निशान छोड़ा है। किंतु सबसे महत्त्वपूर्ण बात है कि नयी शिक्षा ने नारी

को स्वाधिकार के प्रति जागरित करके भी उसे विकृत कटुता और पुरुष-विरोधी अहंकार नहीं दिया है। नारी असामाजिक नहीं बनी है। उसमें वर्गचेतना के कारण अभी ऊंच-नीच का भेद भी अधिक नहीं जमा है। सारांश में, वह काफी सीमा तक संवेदनशील है और पीड़ा के नाते उसमें अभी तक काफी सहनशीलता विद्यमान है। उसके पास जो कुछ है वह उसपर गर्व करती है, अपने को असहाय नहीं समझती, साझेदारी चाहती है, पर अपने को खोकर नहीं :

चुकाओ प्राण न इसका मोल
नयन का खारा है यह नीर !
बताओ दोगे क्या उपहार
न लूँगी कंचन का संसार
नहीं चाहों का मोहक हार
भला बदले में लेकर प्यार
लुटाऊँ क्यों मैं कोष अमोल
गँवाऊँ क्यों मैं इसकी पीर !
जलधि का जल होता है छार
नहीं है पावन मीठी धार
अपावन खारी सिन्धु अपार
सँभाले सरिताओं का भार
छिपाये निज निधियाँ अनमोल
सँभाले पीर गहन गम्भीर
इसे ढल-ढल होने दो क्षार
छिपाये भारी पीड़ा भार
जुटेगी जब यह खारी धार
बनेगा उर तब पारावार
ढलेंगे मोती अति अनमोल
अभी मत होना प्राण अधीर !

—कमला चौधरी

अभी प्राण अधीर कैसे होंगे ? नारी को अपने नयनों के नीर पर जितना विश्वास है, जितना अभिमान है, उतना किसको होगा ! पुरुष भले ही स्त्री के अश्रु को दयनीयता कहे—'और आंखों में पानी', परंतु स्त्री तो उसे अपनी आग में तपने की साधना ही मानती रही है, उसे क्या इससे रोका जा सकता है ?

रूप का उफान

प्रेम की इति जीवन का विकास है, जीवन का विकास सौंदर्य है। सौंदर्य एक स्थायी आसक्ति है, एक व्यक्ति की अनुभूति होकर भी परस्पर सम्बन्ध में साधारणीकरण के आधार पर ही टिकती है। सौंदर्य यदि स्थायी नहीं है तो वह मानवीय मूल्यों की परम्परा का विकास अपने द्वारा बिंबित नहीं कर सकता। हमारा समाज, हमारे व्यवहार, राजनीति, इतिहास और लोक-सम्बन्ध बदलनेवाली वस्तु हैं। इस नैरन्तर्य में जो एकता है, प्राचीन काव्य में वह हमें अपने मुखर रूप में भगवान का आश्रय लेकर रहती हुई दिखाई देती है। काव्य की भूमि में तो भाव ही हमें जागरित करता है, किन्तु विविधता के अतिरिक्त सदैव एक सत्य खोजने की चेष्टा होती रही है जिसके आधार से एक युग ने दूसरे युग को पकड़ा है। प्राचीन काल में जब वैष्णव चिन्तन ने विकास किया था, तब महाभारत, रामायण और पुराणों में उसने प्राचीन वैदिक-कालीन पात्रों को ही नये रूप में सजाकर रख दिया था। नये कवि ने भी पुरानी परम्परा को आत्मसात् कर लेने की चेष्टा की है। उसने अपनी परम्पराओं के सामने समर्पण नहीं किया है। किन्तु केवल विद्रोह करने के लिए विद्रोह भी नहीं किया। उसने नया माध्यम ढूंढ़ा है। मूलतः उसने 'भाव'-पक्ष को ही अधिक शक्ति से पकड़ने का प्रयत्न किया है, क्योंकि उसीमें उसे अपनी और अतीत तथा अनागत की सत्ता का एकीकरण सर्वाधिक प्राप्त हुआ है। उसने अपनी प्राचीन मान्यताओं को मुड़कर देखा है और किसी विद्वेष से नहीं, स्नेह से ही। अपनी उलझनों को दूर करने के लिए उसने उनसे प्रश्न भी किए हैं और जितना वह उनमें से ले सका है, उतना ले भी चुका है। इस बार उसने तर्क की जड़ता तक की सीमा नहीं दिखाई, प्रचारक का हठ नहीं दिखाया, न आस्था ने उसमें भय का रूप ही ग्रहण किया है।

उसने तो सहज जीवन को सबसे पहले देखा है और उसके प्रति अपनी आसक्ति को निस्संकोच स्पष्ट कर दिया है, तदनन्तर उसने परख की है और वह जो कि साधारण से ऊंचा है, उदात्त है, जो सुन्दर है, उसीमें उसने अपनी श्रद्धा को दिखाया है :

तुम दाह घृणा का लेकर मन में बैठे हो।
खिल चटक चाँदनी रातें बीती जाती हैं।

चीनांशुक पट से झाँक रही है प्रकृति-वधू
कर्पूरी मुखड़ा फलों की मुस्कान भरा

यह रूप ज्योति तुम देख नहीं क्यों पाते हो ?
आनन्द निमंत्रण प्राणों का करण करण बिखरा।
तुम चिता के अंगार लिये क्यों बैठे हो ?
साधों की मीठी घातें बीती जाती हैं।

×

तुम रोष अनल की ज्वाल जलाये बैठे हो।
वय के ऋतु की बरसातें बीती जाती हैं।
कुण्ठाएँ जग की अन्तहीन, है अकथ व्यथा
संघर्षों का तूफान भयंकर आता है
पर क्षणिक हास से क्यों न लपेटो दिवस-रात
आत्मा का स्वर-प्लावन अवसाद डुबाता है
तुम निरानन्द क्यों अंतराल में दुर्गम हो ?
पुलकन की नीरव बातें बीती जाती हैं।

—सुमित्राकुमारी सिन्हा

पुरुष का चिरन्तन प्रयत्न रहा है कि वह अपने व्यक्ति की अहंभरी मान्यता का अलग से ही निर्माण करे। यद्यपि यह उसकी चेष्टा रही है, परन्तु प्रकृति की सहज क्रियाशीलता ने उसकी इकाई को कभी भी इस संकोच में पूर्ण होने की आज्ञा नहीं दी। वह पूर्णता उसमें अपने-आपमें समाप्त हो जाने में नहीं है, उसके अपनेपन के विकास को प्राप्त करने में है। और उस विकास के लिए निरन्तर ही नारी उसका पूरक रही है। नारी की कल्पना उसे एकांत की ओर नहीं खींचती। वह किसी और बड़े आश्रय की ओर ही आकर्षित होती रही है। यह एक नये परन्तु शाश्वत प्रकार का संबल है जो अपनी परिधि का विस्तार करके ही अपनी चरम तृप्ति का अनुभव करता है।

दर्शन की नीरसता पुरुष के अहं की ही अभिव्यक्ति बनकर आई है, जिसने नारी को माध्यममात्र कहकर स्वीकार किया है। यद्यपि सृष्टि के दृष्टिकोण से देखने पर नारी ही सर्वांग है और पुरुष उसके अंगों की छाया को अपने शरीर में सर्वत्र धारण करता है, किन्तु समाज में पितृसत्ता के उदय के साथ जीवन के दृष्टिकोण ने भी अपने को वैसा ही बदला हुआ पाया जैसा कि उसकी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था ने प्रतिबिंबित किया।

नारी यद्यपि जननी बनने के लिए अत्यन्त कष्ट उठाती है, परन्तु वह कष्ट उसके आनेवाले आनन्द की तृप्ति और पूर्णता का माध्यम-मात्र है। इसीलिए वह वसुन्धरा का ही प्रतीक बनकर सब प्रकार की वेदना को सहज ही स्वीकृत करके निरन्तर पुरुष को सृजन की ओर प्रेरित करती रहती है। पुरुष ने अपने को 'ऊर्ध्व चेतना' की प्राप्ति के भ्रम में जकड़ने की चेष्टा की है। नारी ने आवाहन दिया है कि सुन्दर को सुन्दरतर

बनाओ।

और द्वन्द्व का रूप अपने-आप ही एक नवीन विधेय का परिणयन करता है, जिसमें बीतते पलों को भी पूरी तरह भोग लेने की आकांक्षा है। इस भोग को हम वासना का उफान-मात्र कहकर नहीं छोड़ दे सकते, क्योंकि यह तो काल-यापन को बोझ न समझकर, जीवन के प्रत्येक क्षण की उपादेयता का मर्म समझकर उससे तादात्म्य बिठा लेने का सामारस्य है।

यह अन्तस् की मनुहार अपनी बाह्य लज्जा के परिवेष्टनों को तोड़कर निकली है, जो प्रकट करती है कि नारी आज अपने मूक अवरोधों में नहीं रहना चाहती। बल्कि पुरुष के उस एकांगी दर्शन को ही चुनौती देकर उसे जीवन की सार्थकता की ओर खींचती है।

रूढ़िवादी आलोचक नहीं समझ सकते कि यह दृष्टिकोण जीवन के यथार्थ को कितना आगे ले जाता है। इसमें समानता के अधिकार की निम्न कोटि की ईर्ष्या-भरी प्रतिस्पर्धा नहीं है, बल्कि वह ऐसे सत्य का निरूपण है जिससे दृष्टि हटा लेने के कारण ही एक अकारण का मिथुन-द्वन्द्व पैदा हो गया है। संघर्षों और तूफानों की विवर्धित भयावहता को भी झेल जाने की सामर्थ्य तभी जन्म ले सकती है, जब क्षण के सुख की आसक्ति मन में जन्म ले सके, क्योंकि क्षण अपने-आपमें सृष्टि की समस्त गत्यात्मकता और संगीत को स्वीकार कर लेता है। इस गति के जीवन्त होने की कल्पना के कारण ही संघर्षों को भी अन्तहीन कहा गया है, क्योंकि संघर्ष का अन्त वास्तव में आगे के विकास का सदैव के लिए रुक जाना है। अब यदि कोई निरंतर के परिवर्तन में एक स्थिरता ढूंढता रहे और अपने सारे पलों को गंवा दे तो उसको वास्तव में न यही अंत मिलता है, न वही अंत मिलता है जिसके लिए वह मृगतृष्णा में भटका करता है। यही वह क्षण की प्रतीति की भावना है जो नैरंतर्य को 'कल' की अभिधा में 'आज' की व्यंजनात्मकता प्रदान करती है।

इसका कोई अन्त नहीं है। यह किसी भी अवस्था में हो सकती है। पुरुष में भी नारी की यह स्पंदना कभी-कभी उत्पन्न हो जाती है। उसमें उस समय जो वृत्ति जागती है वह फिर यौन सीमाओं में बंधी नहीं रह जाती। रात की बरसात में भवानी प्रसाद तिवारी की तन्मयता उसीकी अभिव्यक्ति करती है जब कवि कहता है:

यह रात री!
सघन रिमझिम वारिसेना
ले घिरी बरसात री!
दामिनी नभ में समाई
जलद का उर चीर सखि
उपालंभ बनी उमड़ती
चातकी की पीर सखि

जल रहे हैं प्राण पामर
भीगते हैं गात री !
सजनि मेरे प्राण यदि
होते न मेरे प्राण री !
सजनि मेरे प्राण यदि
होते कहीं पाषाण री !
कुछ न कहती मौन सह
रहती सभी आघात री !

—भवानीप्रसाद तिवारी

प्राण यदि प्राण न होकर पाषाण होते तो आघातों के विरुद्ध कोई उपालम्भ नहीं होता। किन्तु प्राण तो प्राण ही हैं। उनमें टीस भी है, कसक भी है। वेदना के अनेक पहलू हैं। वे जागते हैं और सताते हैं। कितनी तड़पन है कि उसे बादल का हृदय भी चीरकर बिजली समाती हुई दिखाई देती है।

काव्य में यह प्रयोग उसकी अनुभूति-प्रवणता को समझाने में ही सहायक नहीं होते, वे अनुकूल वातावरण भी प्रस्तुत किया करते हैं। प्रकृति का यह एक सरल चित्र है, किन्तु इसमें वेदना की मूर्तता ने इसे एक प्रकार से संश्लिष्ट बना दिया है।

अंधेरी रात ! बरसता बादल ! कौंधती बिजली ! चातकी की पीड़ा और उसका उपालम्भ ! फिर प्राण पामर क्यों हैं ? क्योंकि वे समर्पण करते तो कोई दुःख ही नहीं था। समर्पण वे कर नहीं सके हैं। यह हठ ही तो दुःखदाई हो गया है। इसका उत्तरदायित्व किसपर है ? वेदना पर नहीं, प्राण की संवेदनशीलता पर।

यह अंधेरी रात तो सदैव दुःख देती है और सदैव मन से कहती है कि किसी प्रकार समझौता कर :

आई अँधेरी रात अब—
सुख दिवस की मन गगन से
अंतिम किरन धुलने लगी
रँगने उसे दुख की गहनतम
कालिमा घुलने लगी।
भर अलि पुतलियों को हुए
मुद्रित नयन जलजात अब।
इस विषमतन को निरख
मन की बात मन में रह गई
पर कोक कोकी की विवश
दुख कोर इतना कह गई

जाने न होगा अब हमारा
सुखद मिलन प्रभात कब ?
तुमको न सकते रोक जो
वे अश्रु क्या ? उच्छ्वास क्या ?
आया न आया, आ न लाया
स्वप्न का विश्वास क्या ?
मन के भुलावे हैं परम प्रिय
मधुर स्मृति की बात सब !

—विश्वम्भर 'मानव'

सुख एक दिन के समान है। मन तो गगन है। यहां 'गगन' शब्द मन की जिस व्यापकता का द्योतन करता है वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसीमें बादलों की रंगीनियां दिखती हैं, इसीमें आशा के विहग कलरव करके प्रभात में उड़ते हैं और संध्या में टोल के टोल लौटते हैं। और जब कसक उठती है तब मेघ गर्जन-तर्जन करते हैं। बिजलियां चमकती हैं। दुःख की कालिमा उसे घेर लेती हैं। और वे आंसू भी क्या जो तुम्हें रोक नहीं सकते ! जो स्वप्न तुम्हें नहीं लाया और स्वयं यदि आ भी गया तो उसका विश्वास ही क्या ? यादों की मीठी बातें करने से भी क्या लाभ ! यह तो मन का भुलावा ही है। जब वेदना अपनी आसक्ति की तीव्रता का अनुभव करती है तब कवि की बोझिल उदासी कितनी विवशता की अनुभूति का प्रदर्शन करती है !

प्रकृति के विशाल रूपों में भी यही अनुरक्ति हमें दिखाई देती है। तारा पाण्डे को कोयल ऐसी ही उदासी में जब दिखाई पड़ती है तो वह कहती है :

आम्र कुञ्ज में कोयल बोली !
अलि के मधुर गीत सुन गुन-गुन
मुग्ध कली ने आँखें खोलीं !
जड़ चेतन में मधु ऋतु आई
सुरभित वायु सँदेशा लाई,
सुधि हो आई निज यौवन की
जब मैं थी अनजानी भोली !
उड़ती धूल उदासी आती
मुखर पिकी तब गीत सुनाती
जग उठती है पागल मन में
चिर अतृप्त आशा की होली !

×

तेरा गीत जगत से न्यारा
इसी हेतु मुझको अति प्यारा

बीता जाता है वसन्त, अब
भरती जा यह रीती झोली !

—तारा पाण्डे

मधुरता सौंदर्य को जन्म देती है। सौंदर्य अपने को नाद और स्वरूप में एकाकार करता है। कली एक नये जीवन का पर्याय है। और नया जीवन स्वयं मुग्ध है क्योंकि सौंदर्य अपने भिन्न रूपों में भी वास्तव में एक ही है। तभी जड़ और चेतन में एक ही चेतना का संदेश जाग उठता है। कीट्स में भी हमें दूसरे रूप में मनुष्य की विगत के प्रति होनेवाली वेदना प्राप्त होती है। किन्तु उसके यौवन में अनजान भोलापन नहीं मिलता। अनजान भोलापन समाप्त होता है एक कसकन-भरी वेदना में। एक ओर उड़ती धूल की उदासी है दूसरी ओर पिकी के उसी शाश्वत आनंद का स्वर है, किन्तु इस बार नारी के अन्तस्तल में अतृप्ति-भरी आशा होली की भांति धधक उठती है। होली में स्मरण रखना आवश्यक है कि वह ज्वाला अपने-आप नहीं उठती, वह तो बड़े यत्नों से जलाई जाती है।

भाव अपना अंत करता है कि हे कोकिल तेरा गीत इसीलिए मुझे बहुत प्रिय है कि वह संसार से न्यारा है। संसार में मुझे अस्थायी सौन्दर्य मिलता है। क्योंकि नारी का जीवन उसके बंधनों में एक रीती झोली के समान है।

प्रकृति का सौन्दर्य अपने-आप तो सुन्दर होता ही है किन्तु शृंगार की भावना से मिल जाने पर उसमें एक अपरूप सौंदर्य जाग उठता है। कवि नरेन्द्र की मस्ती अपना विकास करती है, वह कहता है :

खुली हवा है, खिली धूप है, दुनिया कितनी सुन्दर रानी !
आओ सारस की जोड़ी-से निकल चलें हम दोनों प्राणी !
उड़े चलें खेतों के ऊपर नीचे कोमल नरम खूँद है
जहाँ शरद के मुक्त हास-मिस हँसी ओस की बूँद बूँद है !
उड़ें और आगे देखो वह कब से हमको पास बुलाते
अलग अलग फिर एक साथ सब वन के तरु सौ शीश हिलाते !
फैली थीं मैली धोती-सी वन में जो बरसाती नदियाँ
लगतीं अब मरकत महलों के बीच छिकीं चाँदी की गलियाँ !

×

गंगा के संग लौट पड़ेंगे तुरत चाँदनी भरी रात में
पूनों साथ चलेगी भर कर मोती चंदा की परात में।
'टूट पड़ें हम भी' ! पूछेंगे बड़ी बड़ी बूँदों-से तारे,
चाँद उतर आएगा भू पर देखोगी तुम नदी किनारे।

—नरेन्द्र

संसार से विरक्त होने की आवश्यकता नहीं। प्रेमी को तो यह दुनिया बहुत

सुन्दर दिखाई देती है। मध्यकालीन कवि भी अपनी प्रिया को उपवनों में घुमाता था, किन्तु उसमें स्वच्छंद सरसता नहीं थी। हमारी परंपरा में राम और सीता जीवन के कष्ट झेलते हुए वन-वन में घूमते हैं, किन्तु उनका दांपत्य यदि मुखर होता है तो वाल्मीकि उसे विप्रलंभ शृंगार के अन्तर्गत ही दिखा सके हैं। इस कवि की प्रिया इतनी सहज मानवी है कि उसपर किसी प्रकार के कलुषित बंधन नहीं हैं। वह तो उसे सारस की जोड़ी की भांति उड़ने का आवाहन देता है। सुदूर तक फैली सुषमा में अनंत आकाश में उड़ चलनेवाले इस जोड़े की मस्ती को कवि ने बहुत पास से छुआ है। वन के सौ-सौ शीशों को वह एक साथ सिर हिलाते देखता है। कल्पना की उत्कृष्टता तब मिलती है जब हम वर्षा की मैली धोती-सी नदियों को मरकत के महलों के बीच चांदी की गलियों की भांति छिकी हुई देखते हैं। कम्बन ने अपनी रामायण में इस जल की तुलना एक व्यापारी से की है। कालिदास ने इसे एक अजगर कहा है, किन्तु मेरा कवि इसे चांदी की गली कहता है। क्या यह विरोधाभास नहीं कि मैली धोती-सा पानी चांदी का सा लगे ? नहीं। वह मैली धोती-सा पानी तो तब देख रहा था जब वह पृथ्वी पर था। कवि ने 'अब' शब्द का प्रयोग करके काव्य में सजीवता का स्फुरण किया है। वह तो आकाश में उड़ रहा है, दूर से देख रहा है जहां से जल पर ऊपर को चमक पड़ रही है। पत्ता-पत्ता वन में धुलकर पन्ने की भांति चमक रहा है।

प्रकृति ने आधुनिक कवि को वास्तव में बहुत ही कोमल बनाया है। मेरा कवि कहता है :

ये आसाढ़ी बादल प्यारे, ये कजरारे, ये गदरारे
उमड़-घुमड़ कर घूम रहे हैं, आलिंगन की बाँह पसारे।
पैरों की धरती भी मानो सजल मेघ-सी उमड़ी आती
सौ-सौ बार हृदय फटता है, सौ-सौ बार आँख भर आती।
कण-कण की भी साँस-साँस में, होम-धूम की गंध पगी है
पाँवों की मिट्टी भी जैसे, बनकर ज्वलित कपूर जगी है।
मेघ-पार ओ रहने वाली ! अयि अज्ञात सुन्दरी मेरी
मन में झलक झलक छवि जाती, निराकार सपनों-सी तेरी।
पीत कपोलों पर युग-युग से अश्रुरेख बन खिंची हुई तू
उर की प्रतिमा पर युग-युग से कुसुम-डाल बन लची हुई तू।

×

युग-युग के आसाढ़ों से मैं निज अलका की आग बुझाऊँ
थपकी देती रह तू रानी, मैं सुख-पीड़ा में मर जाऊँ।

—नीलकण्ठ तिवारी

कजरारे बादर तो सूरदास ने भी कहे थे। परन्तु आलिंगन की बाहें अब ही अब आकर पसरी हैं। कवि का हृदय विरह की वेदना से पीड़ित है। कालिदास का

चिंतन तो मांसल मिलन का स्वप्न भरकर मेघदूत में बार-बार पुकार उठा था। यहां भी कवि पुकारता है, किन्तु उसपर तो कालिदास के युग से कहीं अधिक बंधन हैं। तभी तो वह कहता है कि मेरी प्रिया तो मेघों के पार रहती है। वह तो अज्ञात सुन्दरी है। सौंदर्य अज्ञात नहीं होता। अनदेखा तो मन में समाया रहता है, तभी तो वह और भी अधिक सुन्दर लगता है। अज्ञात कहकर कवि युग-नारी के विरह की वेदना को किसी न किसी रूप से प्रकट कर ही देता है, क्योंकि वही तो युग-युग के अश्रु की रेखा से कपोलों पर अंकित है। वहां, जहां कवि अपने व्यक्तित्व की सीमा को व्यापकता देता है, वहीं वह अपनी वेदना को अस्पष्ट नहीं कर देता, वरन् उसमें एक टीस-सी भर लाता है। बरसात की मेघावली के बाद शिशिर के मेघ दिखते हैं :

छाये ये शिशिर के मेघ
उन्मन - से, उनींदे - से
उजली धूप के नभ और
धरती पर पहरुए - से
आये हैं समेटे एक
ठिठुरन श्वेत दामन में !

×

ढलती धूप के संगीत
में बहते हुए पल - पल
गाते जा रहे पथभ्रांत
मधु - बौछार भीगे - से !

×

भूले हो गगन की राह
धरती पर उतर आओ
मैं भी व्योम की गहराइयों में
थक चुका उड़ कर।

—घनश्याम अस्थाना

कवि देखता है। न जाने क्यों उसे वे उनींदे से दिखाई देते हैं ! उनींदे ही तो होंगे, उनमें वर्षा की चंचल तीव्र झंझा पर झमकने की शक्ति होती ही कहां है। शब्दों का चुनाव ही तो कविता का प्राण है। ये बादल ठिठुरन को अपने सफेद दामन में समेट लाए हैं। दामन तो यहां किसी अहंकार-भरी स्त्री का दामन-सा लगता है।

इन मेघों में जीवन की सर्जनवती भावना नहीं। पथभ्रांत है। कवि बहुत थक चुका है। दर्शन से उसे सांत्वना नहीं मिली है। वह ईश्वर के विषय में बहुत कुछ चिन्ता कर चुका है। उसे किसीमें आश्वासन नहीं मिला है। तभी शायद वह सोचता है कि ये मेघ भी आकाश की राह भटकने के कारण ही अपने मार्ग को नहीं पहचान

सके। वह उन्हें धरती पर उतर आने का निमन्त्रण देता है, क्योंकि धरती उसे प्यारी लगती है। वह इस धरती को प्यार करता है क्योंकि शून्य उसे उबा चुका है।

रेवतदान अपनी मारवाड़ी गीत की माधुरी में कहता है :

ठंडी बूठोड़ा री लैर
मीठा बटाऊ रा गीत
भली भादरवा री रात,
मिले मनड़ेरा मीत।
लागे प्यारी पुरवाई,
आ तो लूम झूम आई।
लाई सपना सँवार,
बाजे हिवड़े रा तार।
देखो लागे नहीं ठेस
वीणा टूट नहीं जाय,
होले हालोरे बायरिया,
झोलो सह्यो न जाय!
झीणी दिवणी री पून,
उड़े दिखणी रो चीर,
आवो ढलते चौमासे
नैनी नणदी रा बीर!
आयो आसोजाँ रो मास,
मन मिलणे री आस।
गोरी डागलिये चढ़ जाये
आ तो ओलूंडी कर रोय।

—रेवतदान

लोकगीतों की सी चपलता, जैसे झूले की पेंग पर पेंग आ रही हो, या कोई चंचल चरण हो जो छूम-छुन-छुन करके नाच रहा हो, ऐसा है इस गीत में संगीत। यह इस धरती का ही प्यार है। मेरा कवि कहता है कि हे बयार! तू सपना संवार कर लाई है। हृदय का तार बजने लगा है। देख ऐसी ठेस न लग जाए कि मेरी वीणा ही टूट जाए। तेरा झोला सहा नहीं जाता! इस न सहने की तुलना में जो आत्मविभोरता है उसकी तुलना उस गंभीरता से करिए कि व्योम की गहराइयां उबा रही हैं, अतः हे मेघ, तू धरती पर ही उतर आ। उतर आ, क्योंकि यहां अधिक आनंद है। वह आनंद बहिन के हृदय में है, उसकी भाभी के हृदय में है क्योंकि वह प्रेम की आनंदमयी वास्तविकता है। न आएगा प्रियतम, तो वेदना तो होगी ही।

यही चारों ओर का अंधेरा परदेसी को दूसरे ही रूप में दिखाई देता है।

आकाश में मशालें जलती हैं, पृथ्वी पर उजाला हो उठता है :

नभ में चपल मशालें जलतीं
धरती पर उजियाला
कभी चमकती हुई ज्योतियाँ
कभी गहनतम काला।
खुले झरोखे, शीत पवन के
झोंके आते होंगे
और लता पर के दो पंछी
डर-डर जाते होंगे !

×

संध्या के सूने में धीरे
टपक रही शेफाली
तो क्या तुम भी यों ही चुप-चुप
रोती होगी आली ?
किसी सुहागिन की गगरी-
सम हों न छलकती आँखें,
सोच यही सन जाती दुख में
मन-मधुकर की पाँखें

×

बादल-गोद बिखर कर बिजली
हाय, लगी मुस्काने,
रही मुझे तरसाती सजनी,
हँसी प्रलय का ढाने।
छूट मेघ-छाती से छहरी
गहरी लिये खुमारी
और आ रही बौछारों-सी
हमको याद तुम्हारी !

×

सखी, पूछता, तुमको भी क्या
याद न आती होगी,
घिरती घटा तुम्हें प्रिय,
मेरी याद दिलाती होगी ?

—परदेशी

उसे मेघ एक स्मृति का माध्यम है। वह अकेला उसे नहीं देखता। उसकी

कल्पना में वह मेघ उसकी प्रिया तक फैला हुआ है। कौन-सा नवीन युग आएगा जब मनुष्य की यह स्पंदना उसमें से नष्ट हो जाएगी ? मेरी समझ में तो यह सदैव रहेगी। पपीहे की तान मनुष्य को तो आज तक अच्छी लगती चली आ रही हैं। उसके बोलों में विरह की अंतरात्मा सदैव अपनी प्रतिध्वनि पाती रही है। मेरे कवि ने जब उसे सुना तब उसने वही स्थायी भाव की शक्ति जाग उठी।

री बोले पपीहा कहीं पीउ-पीउ।
गूँज रहे धरती औ'
अम्बर में बोल ये
गूँज रहे विरहिन के
अन्तर में बोल ये
बूँदों की रिमझिम में
बरसी ये टेर,
लहरों में जाती बही पीउ-पीउ।
लहिन-सी दामिनि
औ' डोली-से मेघ रे
जाने किस देश चले
लेकर ये मेघ रे
और कहीं सूने
आई पुकार
सुनती बदरिया रही पीउ-पीउ।

—जगत्प्रकाश चतुर्वेदी

पपीहे की टेर का बूंद-बूंद में से बरसना एक नई कल्पना है, मानो उसकी विरहव्याप्त वाणी मेघों के अंतस्तल में रम गई है। एक ओर यही मेघ जो इतना उदात्त है, इतना रसवान है, वही दूसरी ओर पिघला हुआ भी है, करुण भी है। उसे सदैव सरसहृदय माना भी तो गया है। वेदना उसमें लीन होकर व्याप जाए तो आश्चर्य ही क्या ? वही धरती पर गिरकर जब एकत्र होती है तो लहरों का रूप धारण कर लेती है। इस समय समस्त तरलता से एक ध्वनि गूंजती है—पिउ, पिउ ! अचानक कवि के मन में एक नई कल्पना जाग उठती है जैसे वह बहुत भीतर छिपी थी। वही इस वेदना की अनुभूति का मूल है। बादलों में जो सुवर्ण की भांति कौंधती है वह दामिनी एक दुल्हिन-सी है जो मेघों की डोली में छिपी बैठी है। कभी वह बाहर देखती है, कभी पर्दों के पीछे छिप जाती है। जाने मेघ इसे कहां लिए जा रहे हैं ! दूसरी बार वह पिउ नहीं सुनता, पिया का शब्द सुनता है। इस बार वह अभी मुखर है :

बोल रहे मोर कहीं दूर
अमवा की डाली पै कोयलिया बोले
नीबा की ओट कोई पिया-पिया बोले
लहराते जमुनी के पेड़,
फूले हैं बौर कहीं दूर।
ऊपर हैं मेघ, नीचे धानी-सी घास है
कन-कन के मन में बसी पानी की आस है
घण्टी की आती आवाज,
चरते हैं ढोर कहीं दूर।
पातों के मर्मर में सोई मल्हार है
मेरे भी अंतर में कोई पुकार है
सूने ये नयनन के द्वार,
मेरे चितचोर कहीं दूर।

—जगत्प्रकाश चतुर्वेदी

जमुनी के पेड़ अपनी हरियावली लहराते हुए खड़े हैं। आम की डाली पर कोयल बोल रही है। उद्दीपन से चित्र स्नात है। ऊपर मेघ हैं, नीचे धानी-सी घास है! कन-कन प्यासा है, दूर कहीं ढोर चर रहे हैं। उनके गले में घंटियां बंधी हैं जो टिनटिना उठती हैं। पत्ते-पत्ते में मेघों क देखकर मल्हार सोई है। मानो एक ही तान सबमें छागई है। वही तान कवि के भी भीतर है। नयनों के द्वार सूने-से खुले पड़े हैं, चिर प्रतीक्षा में। क्यों? क्योंकि कवि के प्रेम का पात्र दूर है, वह अब उसकी पहुंच के परे हो गया है।

यहां प्रेम है, वासना भी है, मांसल जीवन भी है, किंतु कहीं अस्वस्थता नहीं। हृदय में एक हिलोर उठती है, भिगोती चली जाती है। वह उसे रोकता नहीं, घुटता नहीं, क्योंकि उसका बादल देखकर कोयल पुकार उठी है। मोर कहीं दूर है पर बोल उठा है। इसका मर्म वही समझ सकता है जिसने वर्षा के आगमन की बेला में अनदेखे मोर की द्विधाभिन्ना केका का रव सुना है। जो कितना सुखद होता है, शब्दों में नहीं बांधा जा सकता, कवियों ने शताब्दियों से इन पक्षियों में अपनी रूप-भावना को साकार किया है। व्यक्तिभास के परे लोक-भावना भी जगाई है:

लता कुञ्ज में कोयल बोली।
आज हर्ष से फूली-फूली
दुनिया अपने में ही भूली
वन-पलाश के फूलों में भी
किसने आकर रोली घोली?

तरु - तरु पर उल्लास समाया
पत्तों ने नव जीवन पाया
ले अबीर की झोली अपनी
निकल पड़ी तरुणों की टोली !
रंगभरी पिचकारी छूटी
मर्यादा की सीमा टूटी,
जन-जन खेल रहा है खुल कर
हँसते गाते होली-होली।

—हीरादेवी चतुर्वेदी

यह वसंत की कोकिल है। संस्कृत के कवियों ने पुंस्कोकिल का नाद सुना था। वे पुरुष थे। नारी प्रकृति में कोमलता देखती है और इसीलिए उसे स्त्री-रूप ही अधिक भाता है। और अपनी ही प्रतिकृति को वह उल्लास का भी कारण मानती है। मेरी कवयित्री को इसीलिए सबमें आनन्द दिखाई देता है। होली की उमंग छा रही है। और स्त्री हृदय की सबसे सशक्त अनुभूति तब जागती है जब मर्यादा के टूट जाने में वह उल्लास को सजीव होता हुआ देखती है। उसकी कल्पना सबको देखना चाहती है, तभी वह जन-जन को खेल में तत्पर देखती है। यहां कोई अपने भाग्य को विसूरता हुआ नहीं दिखाई देता कि हाय मैं कैसे खेलूं ? क्या हम इसे यूटोपिया की कल्पना कहें, या यह कहें कि वास्तविकता का सत्य नहीं देखा गया ! लेकिन हमें स्मरण रखना चाहिए कि जनसमाज के व्यक्ति आनन्द और दुःख में लोक-भावना रखकर विभाजन करते हैं। वे विकृत मनोभावनाएं नहीं रखते, जोकि व्यक्तिवाद का मूलाधार है। व्यक्तिवाद तभी हेय होता है जब वह समाज के विरुद्ध खड़े होने की चेष्टा करता है। अन्यथा वह दो ही हृदयों के माध्यम से सबसे अपना सहज साधारणीकरण करने में समर्थ हो जाता है, क्योंकि मनुष्य की व्यक्तिगत इकाई ही उसके समाज से सम्बन्ध जोड़ती है और अपनी इकाई में ही सबको प्रतिबिंबित कर लेती है। कवि कहता है :

कूक, मयूरी, कूक !
आये सघन गगन में घन ये
त्याग हृदय की हूक।
चढ़ रसाल के विटप-हिंडोला
चित्रित पंख पसार,
स्वागत में पावस के तू भी
गा गा सखी, मलार।
तज विरहिणी वेश अपना अब,
कबरी सुभग सँवार,

बन जा तू मेरी तन्त्री का,
मीड़, गहन गुंजार !
मिलकर हम इस विश्व-बीन के
हो जायें दो तार,
औ' उसके पावन निनाद में
विलय करें स्वर-धार !

—राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह

एक नारी दूसरी से जो तादात्म्य स्थापित कर सकी है, शास्त्रीय शब्दावली में उसे 'रति' का ही नाम दिया जा सकता है। प्रकृति के अनेक रूपों के चित्रणों में यह चित्र हमें वर्तमान हिन्दी कविता में काफी अधिक मिलता है। राजस्थान के पुराने लोकगीतों में इस प्रकार की व्यञ्जनाएं प्रायः मिल जाती हैं। यहां तो कवि मयूरी के रूप में विरहिणी वेश का अन्त करता है। और एक पावन निनाद में सब कुछ को सराबोर कर देना चाहता है। चित्रात्मक गति इस कविता का प्राण है। मयूरी का कूकना विशेष अंग-भंगिमा के साथ होता है और दर्शक में अपनी एक अमिट छाप छोड़ता है, तभी कवि ने उसे आवाहन दिया है। मयूरी एक प्रतीक ही है जिसके माध्यम से कवि प्रकृति के उत्साह की अभिव्यक्ति करने में सफलता प्राप्त करता है।

प्रकृति उद्बोधन का माध्यम ग्रहण करती है तब हमारे सामने एक नयी बात आती है। अपनी कविताओं में 'प्रसाद' और महादेवी वर्मा ने भी इस प्रकार के वर्णन किए हैं। महाकवि कालिदास ने भी शिप्रावात का वर्णन किया है जो यूथिका की सोई कलियों को जगाता है।

यहां कवि शेफाली को जगाता है। शेफाली एक सुन्दरी है, जो मिलन का सुख प्राप्त करती है। वह सुहागिनी है :

जाग, शेफाली, जाग !
जगा रहा है तुझे सोमरस पी-पी कर मृदु वात
जगा रहा है तुझे व्योम से घन यह सद्यःस्नात
जगा रहा है इंगित कर-कर उडु का सौर-समाज !
अरी उनींदी अलसायी-सी
आँखों को ले खोल,
सरस सजीली ललित माँग में भर सिन्दूर-पराग
कर जागृत घन, मन, मिलिन्द में, शुक में, पिक में राग !
अंतर्द्वन्द्व मिटा कर उनके बाहुपाश में जाग,
जाग, शेफाली, जाग !

—राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह

सौंदर्य की इसी भावना में रवीन्द्रनाथ ने उर्वशी में रूप का जागरण कोई

साधारण घटना नहीं मानी है। मेरा कवि भी शेफाली कीं सुषमा की महत्ता को जानता है। सोमरस पीकर मृदु वात उसे जगाता है, मानो वह एक ऊर्जस्वित वीर्यवाला कोई प्राचीन आर्य है, जिसके होंठों पर अभी तक मन्त्रोच्चारण की धीमी-धीमी गूंज सुनाई दे रही है। मेघ पवित्र है, धुला हुआ है, सारे ग्रह-उपग्रह उसके प्रति चेतन हैं, जागरूक हैं। उसका जागरण एक साथ घन, मन, भ्रमर, शुक, पिक सबको रागान्वित करेगा ; सबमें सोए हुए अतृप्त भावों का शमन करेगा ; सबमें जीवन्त स्पृहा जगाएगा। उनके भीतर की उथल-पुथल शान्त हो जाएगी। कवि की शेफाली को अंतर्द्वन्द्व के परे होना आवश्यक है। वह तो रूढ़ संस्कारों के कारण उत्पन्न होता है, और अब ऐसा वातावरण है जिसमें हृदय को मुक्त होकर रहना है। सकल सृष्टि के बाहुपाश जिसे अपने भीतर समेट लेने को उद्यत हैं, वह कोई परकीया नहीं, वह लोक की स्वयंसिद्धा सजीवता है, तभी उससे ऐसी व्यापकता की आशा की गई है। यह मांसलता पर समाप्त हो जाने-वाली बात नहीं, शेफाली रूप की चेतना है। क्योंकि यहां वेदना व्यक्तिपरक नहीं है, वह किसी गर्हितावस्था की ओर इंगित नहीं करती। वेदना की व्यक्तिपरकता दूसरे प्रकार का चित्र उपस्थित करती है :

शरद शीतल, शिशिर व्याकुल
भर गई हेमन्त सिहरन बाँसुरी में
चल वसन्ती वायु स्वर्णिम भर गई
रस रंग शतदल पाँखुरी में
हर साँस में मीठी चुभन भर
प्यास का ग्रीषम मुझे तरसा गया
इस दग्ध चातक की तृषा पर
विष-भरा जल मेघ भी बरसा गया
देख लो बेपीर ! अब तो
पीर की तस्वीर उतरी आ रही है
याद उभरी आ रही है

—शिवबहादुर सिंह

नयी कविता कोमल और परुष दोनों की ही वाहिका है। हर सांस में मीठी चुभन भरकर प्यास का ग्रीष्म को तरसा जाना ही इतनी व्यथा का आश्रय था कि उस-पर वह तो बेचारे दग्ध चातक की तृषा पर विष-भरा जल मेघ भी बरसा गया है। तभी तो बेपीर को ही फिर सुनाया जा रहा है कि तुम तो बेपीर हो ! पर यहां तो पीर की तस्वीर उतरती आ रही है, पीर ही याद है।

स्मृति के वश होकर प्राचीन नायक-नायिकाएं भी व्यथा से भर जाते थे। वाल्मीकि के राम को भी पीर उठी थी, जब प्रस्रवण गिरि पर बादलों ने उन्हें अशांत कर दिया था। उस चित्रण में बाह्यजगत् के द्वारा भीतर हलचल उठी थी, यहां तो वह

पहले ही से थी, केवल बाह्य ने उस अन्तस्थ को सहारा-मात्र दिया है।

यौवन-विमर्श की यह संवेदना कितनी द्रावक है, इसकी गहराई तभी पता चलती है जब हम बदलती हुई ऋतुओं के चपल चरणों को भागते देखते हैं किन्तु वह जहां की तहां बनी रहती है। उसकी असलियत का भार तब ही प्रकट होता है जब हम चल वसन्ती वायु को शतदल में रसरंग भरते देखते हैं। वायु को स्वर्णाभ कहकर कवि उसे दृष्टि का भी सहारा लेने को बाध्य करता है। प्रतीक्षा की बेला का दुःख गहन है :

रात पिया, पिछवारे पहरू ठनका किया!
कँप-कँप कर दिया जला, बुझ-बुझ कर यह जिया,
मेरा अंग-अंग जैसे पछुए ने छू दिया,
बड़ी रात गये कहीं पपीहा पिहका किया।
आँखड़ियाँ पगली थीं नींद हुई चोर की,
कई बार आ-आकर बाढ़ रुकी लोर की
रह-रह कर खिड़की का पल्ला उढ़का किया।
पथराये तारों की ज्योति डबडबा गयी
मन की अनकही सभी आँखों में छा गयी,
सुना क्या न तुमने, यह दिल जो धड़का किया।

—केदारनाथ सिंह

यह प्रतीक्षा परुष है। इसमें ग्रामीणता का प्रभाव है। प्रेमिका लेटी है। वह एकांत में है। प्रेमी दूर है। सारी-सारी रात का जागरण है। इस चित्र में बीतता समय बहुत ही लम्बा है। दिया कांप-कांप कर जलता है, दिया बुझ-बुझकर जीता है। यह जीवन से बांधा हुआ एक सुन्दर रूपक है। प्रेम का दीप है वह। बाधाओं में जीवित है, अपनी वेदना में त्रस्त है, किन्तु बुझता नहीं और तभी जागते-जागते जब काफी देर बीत जाती है, समय का गिनना जब बन्द हो जाता है, रात्रि की व्यापक निस्तब्धता में अवधि-ज्ञान निस्सीमा को धारण कर जाता है तब 'बड़ी रात गए' के चुने हुए शब्दों द्वारा मेरा कवि पपीहे की आवाज़ का वर्णन करता है। वह आवाज़ देर तक गूंजती है। प्रेमिका सोने का प्रयत्न करती है, किन्तु सो नहीं पाती, क्योंकि खिड़की का पल्ला बार-बार खुल जाता है। कितना सजीव चित्र है! पथरा जाते हैं तो ज्योति डबडबा जाती है, मानो यह अपनी ही आंखों का बिम्ब-वर्णन है, जिसमें दृष्टि एकटक हो जाती है, देखते-देखते आंखें पथरा जाती हैं और उनमें आंसू भर आते हैं। किन्तु दृष्टि एक तो स्वयं नयनतारा लिए है, दूसरे प्रतीक्षा स्वयं एक टिमटिमाता आलोक है, मानो वही उस अन्धकार में सहारा देनेवाली वस्तु है। आंसू की ज्योति से तुलना इसीलिए है कि उसमें कवि को अपनी निस्पृह धीरता पर विश्वास है। इस प्रेमिका का चित्र हिन्दी साहित्य में कम ही मिलेगा।

प्रेम एक यात्रा की मंज़िल है, या निरंतर यात्रा है, यह कवियों की वैयक्तिक

दृष्टि पर निर्भर है। कभी-कभी वे केवल थकन के माध्यम से ही अपनी बात कहते हैं :

दिन जल्दी-जल्दी ढलता है !
हो जाय न पथ में रात कहीं, मंजिल भी तो है दूर नहीं
यह सोच थका दिन का पंथी भी जल्दी-जल्दी चलता है।
बच्चे प्रत्याशा में होंगे, नीड़ों से झाँक रहे होंगे
यह ध्यान परो में चिड़ियों के भरता कितनी चंचलता है।
मुझसे मिलने को कौन विकल ? मैं होऊँ किसके हित चंचल ?
यह प्रश्न शिथिल करता पद को, भरता उर में विह्वलता है !

—बच्चन

दिन का जल्दी-जल्दी ढलना और पथिक का जल्दी-जल्दी चलना दोनों एक साम्य प्रदर्शित करते हैं। इन दोनों में 'त्वरिता' का लाक्षणिक प्रयोग है। धूप, सूर्य सबका गत्यात्मक होना, पूरे चित्र को उभार लाता है। दिन का पंथी अब अपनी मंज़िल के पास पहुंच चुका है। पास आई मंज़िल को पहुंचने की उत्कट अभिलाषा इस आशंका के प्रति निरंतर जागरूक है कि कहीं मार्ग में ही रात न हो जाए, कहीं जीवन की लंबी साधना बीच में ही खंडित न हो जाए। यह पथिक व्यक्ति-मात्र नहीं। उसका अपनापन लोक-जीवन से सादृश्य चाहता है। क्योंकि पक्षियों के हृदय में बच्चों के प्रति उत्सुकता है, वह अपनी तुलना उनसे करता है। हो सकता है कि कुछ लोग इस भाव को केवल आकस्मिक ही समझें, किंतु ऐसा करना वास्तविकता से दूर जाना होगा। यहां प्रकृति का चित्रण अपने-आपके लिए नहीं हुआ। पारिवारिक जीवन की भूख को व्यक्त करनेवाली ये पंक्तियां अपने समाज की विषमता पर तीखी लकीर खींचती हैं। अज्ञात के प्रति प्रेम की उलझन यहां सांसारिक सम्बन्धों के द्वारा हृदय को छूने लगती है। क्योंकि मुझसे मिलने को कोई विकल नहीं, मैं कहां जाऊं ? यही प्रश्न उठता है। संस्कृत के कवियों के नायकों को प्रतीक्षा करने करनेवाली नायिका मिलती थी। नवयुग में वह पारिवारिक संबंध भी उजड़ते-से दिखाई देते हैं। इस कविता की सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें जो भी अभिव्यक्ति है वह बहुत सरल है, स्पष्ट है, और अकृत्रिम है। उसमें अलंकारों के पीछे दौड़ा नहीं गया, किन्तु वे स्वयं उसमें आ गए हैं। इसी प्रकार नये काव्य में मध्यकालीन आधारों को लेकर भी अपनी अनुभूतियों को व्यक्त किया गया है :

बज उठी बाँसुरी नदी-तीर
मैं युग-युग से सुनती आई
प्राणों में भरती मधुर पीर !
वह कौन तान है वंशी की
कर देती मुझको अति अधीर !

कहता जग मुझको मतवाली
मैंने जीवन की निधि पा ली
क्या जाने किस आनंद-हेतु
बहता नयनों से अश्रु-नीर !
अलि, कौन दिशा से गा-गाकर
इस नीरवता को रहा चीर !
मैं सोच रही चुपचाप आज
सज रहीं गोपियाँ सुखद साज
उस कृष्ण कन्हैया से मिलने
पनघट पर अगणित हुई भीर !

—तारा पाण्डे

कृष्ण और राधा की प्रेमगाथा इस देश की रग-रग में समाई हुई है। लेखिका अपने प्रेम की तड़पन को पुराने आधार देकर अपने को समाज-लांछन से मुक्त कर लेती है और फिर उसे व्यक्त करती है। यहां हम एक युग-युग का वंशी-रव सुनते हैं। मानो यह प्राणों की पीर एक दिन की नहीं है। इतना निश्चित है कि प्रत्येक युग में ऐसी विह्वला नारी को मतवाली माना गया है। मीरा भी मतवाली थी, बल्कि श्रीमद्भागवत की यज्ञपत्नी भी मतवाली ही थी। वे दोनों भी किसी प्रकार बंधनों में नहीं बंध सकीं, फिर यही क्यों बंधे ! गोपियों की सज्जा वह देखती है, परन्तु अपने विषय में कुछ नहीं कहती, क्योंकि यहां स्त्री की स्त्री के प्रति भीतर ही पलनेवाली डाह है, उससे मुक्त होना सहज तो नहीं है। इस तरह की ईर्ष्यापरक रचनाएं और भी हैं, जिनमें हमें वासना का ही रूप दिखाई देता है :

सुहागिन, तुझे अकेला क्या ?
संध्या-सा जिस प्रिय का चुंबन
मन्द पवन-सी जिसकी बाँहें
लाख-लाख भीती विलगायें
किस दिन किस क्षण पास न आयें
तू डूबी प्रिय में तुझको यह
प्रतिबन्धों का मेला क्या ?

×

ठौर-ठौर प्रिय स्मृति का मंदिर
जहाँ कर्म बन गए वंदना
यौवन बना आरती तेरी
और बुढ़ापा बना अर्चना

प्रिय दर्शन को तुझे पुजारिन
वेला और कुवेला क्या ?

—विद्यावती कोकिल

सुहागिनी अकेली है। परंतु वह अपने को अकेली नहीं मानना चाहती। उसका प्रिय चुम्बन लेता है। बांहों में उसे भर लेता है, वह स्वयं सारे प्रतिबंधों को तोड़कर उसके रंग में डूब गई है। किंतु सुहागिनी की वासना किसी विशेष आयु में समाप्त नहीं हो जाती। उसे प्रिय दूर नहीं लगता। हर जगह उसके सामने मंदिर है, मंदिर है प्रिय का; प्रिय का मंदिर क्या है? स्मृति! वह तो जगह-जगह बिखरी पड़ी है। वही-वही जगह उसके लिए पवित्र है। उसे प्रिय ही सर्वत्र अपनी स्मृतियां देकर गया है। वह उसके लिए खोई-सी नहीं बैठी रहना चाहती। अपने जीवन की सर्वश्रेष्ठ कल्पना और तन्मयता में वह अकर्मण्य नहीं होती। वह कर्म में लगी है, मानो कर्म करके यह उसीका गौरव उन्नत करती है, उसीकी वंदना करती है। यौवन और वार्द्धक्य की सीमाएं प्रेम को समाप्त नहीं करतीं, क्योंकि वह प्रेम भ्रमरासक्ति नहीं है। कर्मठ तन्मयता है। सब समय में जब वही साधना है तो उसमें किसी प्रकार का भी अलगाव क्यों माना जाए! रहस्यवादी इसे भगवान के प्रति लेना चाहेगा, किंतु तात्पर्य क्या तब यही नहीं रहेगा? हमारी भारतीय परंपरा का निर्गुण क्या सदैव सगुण को भीतर ही भीतर लेकर नहीं पनपा है। इन दोनों के बीच की दूरी को यहां व्यापक दृष्टिकोण में स्वीकृत ही कब किया गया है!

अपने इस प्रिय का वर्णन करते हुए मेरी कवयित्री ने कहा है कि वह मूलतः सुहागिन है। वह इसपर विशेष बल देती है:

मैं तो अपने पिया की सुहाग भरी,
इन नयनों ने वह छवि देखी
इन पर तो रजनी झुक आई,
तारों के मिस अपनी सब निधि
बेसुध इधर उधर बिखराई
तब पिय की अहिवात भरी
स्मित ने झुक मेरी माँग भरी।
पिय की अंगुलियों को छू
जीवन के टूटे साज बज गये
भले-बुरे सब कर्म सँवर कर
स्वर बन अपने आप सज गये
मैं भूली भाषा पर मेरी
वीणा है अब राग भरी।

—विद्यावती कोकिल

सुहागिन बनी रहने की बात प्रेममार्ग की बात है। कबीर में भी थी, उस कबीर में जो कि ईश्वर को मानवीयता देना चाहता था। तभी 'अहिवात' का प्रयोग किया गया है।

वह अपनी भाषा भूल जाती है, पर उसकी वीणा स्वयं राग से भर जाती है। अर्थात् वह अपनी अलगाव की बात भूल जाती है, किंतु उसकी सत्ता स्वयं ही मधुर स्वर से गूंजने लगती है।

तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह आकर्षण जो अव्यक्त के प्रति है, वह वास्तव में किसी समाज-बंधन के कारण ही होता है। वैसे यह भी मानना ही होगा कि व्यापकता को जो प्रश्रय मिला है वह बहुत कुछ इसी बंधन के कारण मिला है।

मनुष्य का भगवान क्या है ? क्यों वह शताब्दियों से उसमें अपनी सुंदरतम भावनाओं को आश्रित करता रहा है ? क्योंकि मनुष्य और मनुष्य, मनुष्य और सृष्टि के बीच वह एक संबंध जोड़ना चाहता था, एक तादात्म्य उपस्थित कर लेना चाहता था। इसीलिए वह भगवान सदैव ऐसे समय मनुष्य की इच्छाओं की पूर्ति का साधन रहा है, जबकि अन्यत्र उसे बंधन मिले हैं। वह वात्सल्य से लेकर दाम्पत्य तक का सहारा बनकर रहा है। उसकी नारी छवि में भी अंतर्भुक्ति होती है :

तुम्हारे रूप-मन्दिर में
प्रतिक्षण दीप जो जलता
करुण उसकी शिखाओं का
चिरंतन प्यार मैं प्रियतम !
तुम्हारी बीन के सपने
हुए साकार जिसको छू
गगन के प्राण में जो
बंद वह झंकार मैं प्रियतम !
तुम्हारे आँसुओं में सृष्टि का
मंगल-कुसुम बन कर
युगों से खिल रहा जो
मौन वह उपहार मैं प्रियतम !

—प्रभात

रूप की ज्योति और संगीतात्मकता, एक सत्य मानकर चलती हैं कि लोक में मंगल का मूल करुणा ही है। वह चाहे मुखर रहे या अव्यक्त। यदि और भी गहराई में देखा जाए तो भारतीय इतिहास में भगवान ने मनुष्य को कई बार समाज की विषमताओं में उबर आने की जीवंत शक्ति दी है। यह जो परमात्मा हमारे इतने पास आया है, उसकी पृष्ठभूमि में क्या मनुष्य की अनर्थक यात्रा ही नहीं है ? आज भी जिन कविताओं में हमें आत्मा के तल्लीन एकाकार का स्वर मिलता है वे प्रायः भगवान का

आश्रय ले लेती हैं। इसमें दोनों ही पक्षों का निर्वाह हो जाता है। यद्यपि हमारे स्थायी भावों की जागृति हमारे शृंगार पक्ष से होती है, किंतु हमारी भावना इस रूप में उदात्त-सी हो जाती है, क्योंकि कम से कम इस रूप में हम अपनी सारी क्षुद्रता का त्याग कर देते हैं। यह सत्य है कि एक अंश तक इसमें एक नशीलापन है, जो हमें संघर्ष के व्यावहारिक रूप से कुछ दूर हट जाने की ओर इंगित करता है, किंतु यह इसीमें दोष क्यों माना जाए ? राजनीति की अति में धंसनेवाले भी तो पार्टीवाद में समग्र मानवीय मूल्यों को अत्यंत निम्न स्तर पर उतार लाने की चेष्टा करके कुत्सा को जन्म देते हैं। इस दृष्टि को रखते हुए हम यह देखते हैं कि यह परमात्मा-संबंधी विरति वास्तव में अधिक ही कल्याणकारी है। इसके प्रभाव में हम अवश्य झूमने लगते हैं :

हो शान्त, जगत के कोलाहल !
रुक जा, री जीवन की हलचल !
मैं दूर पड़ा सुन लूँ दो पल,
संदेश नया जो लाई है यह चाल किसी की मस्तानी !
वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

—बच्चन

पगध्वनि नामक कविता में जो पलायन है उसे मैं पलायन नहीं मानता, क्योंकि उसने एक समय लघुताओं की बहती धार को रोककर कहा था, "ठहरो ! तुम्हारे बंधन छोटे हैं, आओ रूप को देखो, व्यापक बनो, अपने को उदात्त बनाओ, तन्मयता का राग गाना सीखो।"

रव गूँजा भू पर, अंबर में, सर में, सरिता में, सागर में
प्रत्येक श्वास में प्रतिस्वर में,
किस-किस का आश्रय ले फैलें मेरे हाथों की हैरानी !
ये ढूँढ़ रहे ध्वनि का उद्गम, मंजीर मुखर युत पद निर्मम
है ठौर सभी जिनकी ध्वनि सम,
इनको पाने का यत्न वृथा श्रम करना केवल नादानी !

—बच्चन

बच्चन ने अपनी कविता में स्पष्ट कर दिया है कि यह जो अतीन्द्रिय चेतना है, वह तुम्हारे साकार मानवीय आवेशों से निस्सृत है, आओ अपने व्यक्तित्व को पहचानो, इसको भूलो मत। वह स्वर उठाकर कहता है :

मैं ही इन चरणों में नूपुर, नूपुर ध्वनि मेरी ही वाणी !

—बच्चन

बच्चन की कविता अपने साथ एक ज्वार लाई थी। एक ओर छायावादी स्वर जनता को देने योग्य देकर चुप हो गए थे, दूसरी ओर राजनीति छाई हुई थी। सांस्कृतिक संवेदनात्मक चेतना का बच्चन ने ही जाने या अनजाने फिर प्रवाह बहाया

था। कुछ लोगों का मत है कि बच्चन ने नशे की छलना फैलाई थी। किंतु यह आंशिक सत्य है। बच्चन के स्वर में जागरण अधिक था, क्योंकि बेचैनी बहुत थी और बेचैनी के उस युग में उसका स्वर निम्न मध्यवर्ग को झकझोर उठा था। निम्नमध्य-वर्ग उस समय सबसे अधिक चैतन्य वर्ग था। उसी वर्ग में उस समय सारा काव्य पल रहा था। हठात् जो उस वर्ग के कुछ तरुणों ने 'रूसी' अनुकृति में नया काव्य सबपर लादना प्रारंभ किया वह अपनी जड़ें नहीं पकड़ सका। हमारी विद्रोही भावना आत्मा और परमात्मा के संबंधों का विकास करती हुई आगे बढ़ रही थी। उसमें जीवन के सुहाग का समन्वय था। उसमें एक कल्याणकारी शक्ति भी उपस्थित थी। उसमें व्यक्ति ने काफी अंश तक नया स्वप्न देखा था :

मेरे नैन रैन ना जाने
पल भर भी तो झपीं न पलकें
मैं क्या जानूं साँझ सबेरा
अब तो सपनों का छल छूटा
जाओ पंछी छोड़ बसेरा
चाह नहीं कोई भी प्राणी
मेरी इस गति को पहचाने।

×

पिंजरे में जो पंछी बंदी
मुझ को होकर दीन निहारे
उड़ जा रे अब देर न कर तू
खोल युगों के बन्द किवारे !
चुन लो हंसा आज विदा के
देती दो मोती के दाने।

—चंद्रमुखी ओझा 'सुधा'

उसने विद्रोह भी किया था किन्तु उसकी एक विशेषता थी कि उसने कुरूपता के स्थान पर पहले सौंदर्य के नये रूपों को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। 'अहं सः' की प्राचीन विचारधारा जो बहुत पहले ही हंस का साकार रूप धारण कर चुकी थी वह अब अपने दोनों पक्षों को उपस्थित करने लगी। एक ओर पिंजरे में बन्द चेतना, दूसरी ओर शरीर में बन्द आत्मा थी। किन्तु आत्मावाला पक्ष तो बहुत पुराना पड़ चुका था। चेतना की नयी रस्सी शताब्दियों के पनघट को घिस रही थी। वह जीवन के नीर के पास पहुंच रही थी। उसे समझने के लिए हमें उसको पूरे तारतम्य के साथ देखना होगा। तभी तो कवि-हृदय ने स्वप्न के छल से छूटना स्वीकार किया है। जिस प्रकार रवींद्र ने 'एकला चलो' की ध्वनि उठाई थी, यह नया हृदय भी किसीके समर्थन की आकांक्षा नहीं करता था। उसने शीघ्र ही अपने एकांत-पक्ष को छोड़ा और समाज के

मूल 'यूनिट' परिवार को, परिवार भी दम्पतिपरक, अपना नया माध्यम बनाया ! किन्तु वह भारतीय समाज में एक द्वन्द्व बन गया, क्योंकि पत्नी-पक्ष अभी निर्बल था। तभी उसने कहा :

रस की दो लहरें मिल करके
बन जातीं संगम गीतों का
आकुलता की दो धारों में
चरम सत्य पलता प्राणों का
जग का सहज प्रवाह न रुकता
हम तुम रुक जायें तो क्या है !
मन के भ्रम की गाँठ टटोलो
इस अनित्य का छोर कहाँ है !
जीवन का अथाह लहराता
बाँहों का जड़ संयम तोड़ो !
मिट्टी के तन में मकड़ी से
दुविधाओं के जाले तोड़ो !
मैं क्या हूँ, तुम क्या हो इसका
छोर न ढूंढ़ो, सब जीवन का...
रस की दो धारें मिल करके
बन जातीं संगम गीतों का।

—शिवनारायण सिंह 'सुयोगी'

उसने विश्व को अनंतप्रवाह स्वीकार किया। उसने जीवन की गतिशीलता को ही प्रभुत्व दिया। यह दुविधा जो जाला बनती है, उसने उसे तोड़ दिया। संसार को प्रवाह मानकर भी उसने अनित्य स्वीकार कर लिया। और रस की प्रमुखता को ही सारी प्रेरणा दी। अपनी विषम परिस्थितियों को देखकर उसने सिर नहीं झुकाया किन्तु जीवन का अंधकार पी लेने की स्पर्धा की :

समझ न आता इस मिट्टी में
कातर प्राण कहाँ बहते हैं।
आरी सी चलती सीने में
तिल तिलकर कटते रहते हैं।
यह तड़पन भी क्या है कन-कन
कर क्षण-क्षण मिट्टी झरती है।
लेकिन मन की लपटें पीकर
आँसू बन ढलती रहती है।

इंठती रस्सी का धूआँ बन
बाँध रहा हूँ तम जीवन का...

—शिवनारायण सिंह 'सुयोगी'

अब एक नई बात ने जन्म लिया। उसका मूल भी भारतीय चिंतन में प्राचीन ही था, किन्तु उसको नये ढंग से प्रस्तुत किया जाने लगा। यह रवींद्र का प्रभाव नहीं था, इसे तो उपनिषदीय चिंतन का ही नया रूप कहा जा सकता है। प्रिय की व्याप्ति में लोक की नई समाहिति प्रारम्भ हुई :

मेरे जीवन-सिंधु मथन के
तुम प्रिय अमृत के अधिकारी !
यह तम पारावार अगम तुम
जैसे एक अकेला तारा।
महाशून्य में बिंबित जैसे
मेरे ही उर का उजियारा।
रूप दीप जग उठा तुम्हारा
मेरा स्नेह बूँद भर पीकर
मुझे जलाकर थाह रहे
मेरी ही आँखों की अँधियारी !
गाते तुम थक गये, बज रहा
पर यह जीवन का इकतारा
गूँज रहा है विविध राग में
महामौन का गान तुम्हारा
धरती और गगन को देती
बाँध एक ही स्वर की रेखा
स्थायी उंगली यहीं तार पर
तुम स्वर के नभ में संचारी !

—हंसकुमार तिवारी

संगीत की लय अब सत्ता को कसमसाने लगी। आलोक और चेतना एक ही के दो पर्याय बन गए। जलन में अंधकार समा गया। नयनों की असीम प्रतीक्षा सुदूर के आशाप्रद नक्षत्र को देखने लगी। और भी एक बात हुई कि महाशून्य में जो भी आलोक था, वह मानव के हृदय का ही प्रकाश बन गया। जीवन पहले तो एक सिन्धु के समान था, जिसका मंथन हो रहा था। उसमें से अमृत निकालना आवश्यक था। उस अमृत का अधिकारी वही था जिससे सारी सृष्टि का संचालन हो रहा था। किन्तु वह संचालक अपने ही मन का उजियाला तो था। उससे दूरी थी ही कब ! और इसी-लिए संगीत की तन्मयता का अन्त नहीं हुआ। जीवन इकतारे की ही भांति बजने

लगा। जिस प्रकार छांदोग्य उपनिषद् में हमें सामनाद की प्रतिध्वनि मिलती है, मानो एक ही अमर गीतात्मक प्रतिध्वनि से सकल चराचर मुखर हो रहा हो, उसी प्रकार यहां भी विविध राग गूंजने लगे। किन्तु यह संगीत महामौन कहा गया, क्योंकि इसे अलग से नहीं सुना जा सकता। जिस प्रकार अपने शरीर में दौड़ते रक्त की धड़कन हम स्वयं बिना रक्तचाप मापक यंत्र के बिना नहीं सुनते, किन्तु ध्वनि मौन में समाहित रहती है, उसी प्रकार यह भी व्याप्त है, पर हम सुन नहीं पाते। पृथ्वी को आकाश से जोड़कर कवि ने एक व्यापक चेतना का अनुभव किया है। तभी अन्यत्र कहा है :

गायक डूब गया वीणा में
नीरवता ही शेष रह गई
जाने किस अभिराम लोक की
मधु झंकृति निःशेष बह गई।
अगणित तारों के नर्तन में
मुखरित हुआ एक वह कंपन
जो तारों के पास बिखर कर
दिव्य कर गया रेखा अंकन,
काष्ठ-खंड की सूक्ष्म शून्यध्वनि
मौन रही, पर बहुत कह गई।

—परमेश्वर द्विरेफ

हम अपनी पृथ्वी के ही बंदी नहीं रह गए, महासृष्टि को ढूंढ़ने लगे। इस समय तक विज्ञान ने नये सत्य खोले थे। हमारे देवता ग्रह-उपग्रह बन गए थे। ग्रह-उपग्रह वे पहले भी थे, पहले भी विश्व, ब्रह्माण्ड, संसार, जगत्, लोक आदि शब्दों के विभिन्न अर्थ थे, जिसकी हम अन्यत्र व्याख्या कर चुके हैं, किन्तु फिर भी हमारे मानवीय प्रयोगों का तव तक वैज्ञानिक लेखा-जोखा नहीं हुआ था। नये युग में भारतीय चिंतन ने इस सबको देखा। यह कबीर के मलकूत और नासूत की अभिव्यक्ति नहीं थी। यहां तो सारी सृष्टि में एक ही समान देखने की चेष्टा थी।

जब-जब मनुष्य ने अपनी छोटी पृथ्वी का अहंकार करके अपने सुन्दर जीवन को विकृत करने की चेष्टा की है, कवियों ने उसे याद दिलाया है कि अपने को सापेक्ष मान कर चलो। युग-विशेष में एक सत्य होता है, किन्तु वह सत्य अपने पिछले युग के सत्य पर निर्भर होता है और आनेवाले युगों के सत्य उसीसे निकलते हैं, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि तुम इस गतिशील जीवन में जो कुछ सोच रहे हो, वही चिरंतन सत्य है। जो छायावाद रीतिकाल की चिरंतन रूढ़ियों के विरुद्ध उठा था, शीघ्र ही वह चिरंतन की खोज में डूबकर अपना प्राणवन्त भाग भूल गया था। उसकी शब्दावली नीरस हो चुकी थी। सुमित्रानंदन पंत और सूर्यकांत त्रिपाठी के चिन्तन में परिवर्तन

हो रहा था। महादेवी वर्मा की प्रेम की, वासना की टीसें अभी भी हिलोरें ले रही थीं, किन्तु तीनों अपने पुराने रूपों में फिर से प्राण नहीं फूंक पा रहे थे। नये कवि-हृदय ने उस समस्या को देखा और कहा कि अब तो समय बदल गया है, अपनी ही गढ़ी हुई चेतनापरक वस्तु को हमें नये तरीके से देखना होगा, उसे परखना होगा :

चाहे जिस मन्दिर के पट को अब खोलो
मैं अपने मन की मूर्ति स्वयं गढ़ लूंगी।
भटकी राहों में मुझे न रोना आता
मेरे चरणों को बढ़ते जाना भाता,
चाहे जितने अस्पष्ट बोल अब बोलो
मैं अपने मन के भाव समझ ही लूंगी।
मेरी दृढ़ता पर तुम्हें दया यदि आये
मेरे साहस की कथा तुम्हें भरमाये
तो वरदानों की छांह बनाये रहना।
साधना सफल हो सिद्धि मिले यह कहना।
चाहे जितने भी निष्ठुर तब तुम हो लो
मैं अपने ऊपर दया स्वयं कर लूंगी।
चाहे जिस दिशि में अब नौका ले डोलो
मैं अपने तट की खोज स्वयं कर लूंगी।

—कीर्ति चौधरी

और नये रूप की ओर जानेवाली चेतना ने बड़े सम्मान से पुरातन से विदा ली। अपनी सामर्थ्य पर विश्वास किया, किन्तु पुरातन की उसकी अपनी जगह पर आघात नहीं किया। केवल उससे स्वस्तिवाचन करने की प्रार्थना की।

यहां यह याद रखने की वस्तु है कि इस सबके प्रतिपक्ष में वैज्ञानिक शब्दावली के सहारे से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद दिन पर दिन बुद्धिवादियों में अपना प्रभाव डालता जा रहा था। भारतीय मस्तिष्क की अजीब उलझन थी। तर्क कुछ और कहता था, परन्तु परम्परा के संस्कार ने मन में कुछ और भर रखा था। वह तर्क को तो स्वीकार करता था किंतु जहां तर्क उसके मन में सामंजस्य नहीं बिठा पाता था, वहां वह अपने पुराने ही आधारों को फिर टटोलकर देखता था :

नयन बन कर देखने की हो गई थी भूल
चुन रहा व्रण वीथियों से वे नियति के शूल।

—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

इससे काम नहीं चलता था। वह यह नहीं मानता था कि जिसको इतनी बुद्धिमत्ता प्रदर्शित करके कुछ लोग, एक शाश्वत का विरोध करते हुए, अपने दूसरे शाश्वत को उपस्थित कर देते हैं, वह किस प्रकार अपना स्थायी मूल्य रख सकता है!

भारतीय ब्रह्मवादी चिंतन स्वयं भारत में द्वैतपरक भी रहा है, और अद्वैतपरक भी। कभी उसे एक ओर सांत्वना मिलती, कभी दूसरी ओर। इस द्वन्द्व के बीच में वह सारी वस्तुस्थिति को रखकर परखने की भी चेष्टा करने लगा। उसने कहा—तुम अपनी रहस्यमयता को स्पष्ट करो ! क्या है यह उलझन ?

बन हृदय आधार दृग के पार तुम क्यों हो ?
ब्रह्म होकर भी अहे ! संसार तुम क्यों हो ?
मैं अकिंचन चकित-सा
नव रूप का आभास देखूं
नयन के घट में मिले ये
सिंधु औ' आकाश देखूं।
रज्जु रागों की लिपट कर
नाग बन फुफकारती है
तब तुम्हारा मेघ में
शतधा सुमुख प्रिय हास देखूं
तरसते हम तृषित—पारावार तुम क्यों हो ?
बन हृदय आधार दृग के पार तुम क्यों हो ?

—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

कितना द्वन्द्व है ! इसे हमें पुरातन के प्रति मोह कहकर छोड़ नहीं देना चाहिए। बल्कि यह सोचना चाहिए कि भारतीय मस्तिष्क कभी किसीकी बात स्वयं बिना समझे स्वीकार नहीं कर लेता। यह शिकायत तो महमूद गज़नवी के समकालीन अलबेरूनी ने भी की थी कि भारतीय नकल करने को ओछापन समझते हैं। वे हठ नहीं करते, नये के प्रति सदैव जागरूक अवश्य रहते हैं, और स्वीकार उसीको करते हैं, जिसे अपने भीतर आत्मसात् कर सकें। तो यह संघर्ष यही बताता है कि किसे स्वीकार किया जाए, किसे नहीं। पहले अपनेको भी तो देख लें कि आखिर उसमें क्या बात है जो काम नहीं चलता ! और क्योंकि प्रेम के प्रतीक यहां दर्शन के प्रतीकों से मिल गए हैं, क्योंकि दर्शन यहां केवल चिंतन की वस्तु नहीं मानी गई, बल्कि उसको जीवन के व्यवहार में रमा लेने का प्रयत्न हुआ है, इसलिए हमें इस प्रकार की उलझन प्रेम के क्षेत्र में भी मिल जाती है। माया, कर्म, पुनर्जन्म के देश में जीवन को सदैव नकारात्मक कहा तो गया है, परन्तु क्यों ? क्योंकि जीवन में सुख नहीं मिला है। सुख की आकांक्षा क्यों है, क्योंकि आस्था उसीमें है, उसीको परमात्मा का सुन्दरतर स्वरूप स्वीकृत किया गया है। इसी उलझन में कवि कहता है :

आज पग बढ़ते न अविरत !
प्राण ! नभ में कौन मेरा
शून्य से टकरा, विवश हो
लौट आता मौन मेरा,

देखते रहते नयन इन तारकों की ज्योति शाश्वत !
आज पग बढ़ते न अविरत !
याद अब आता न मधुवन
आज धुंधला हो गया है
निरस मेरा विगत जीवन,
मीत ! उनका गाँव भूला, प्राण ! उनकी दिशा विस्मृत !
आज पग बढ़ते न अविरत !
कामनाएं रह गयीं रे
और इच्छाएँ पिघलकर
अश्रु बनकर बह गयीं रे,
सूखकर मुरझा गया है आज उनका मधुर स्वागत !
आज पग बढ़ते न अविरत !

—मुंशी रामनाथ 'सुमन'

इस उलझन का अन्त कभी-कभी निराशा के रूप में भी होता है। और निराशा क्योंकि नये युग में व्यापक है, हमें उससे मुख नहीं मोड़ लेना चाहिए। निराशा के कारण होते हैं। टामस हार्डी के युग में ब्रिटिश वैभव फैला हुआ था किन्तु वह आकस्मिक दुर्घटनाओं से आशंकित रहकर परमात्मा को विरोधी माना करता था ! क्योंकि उसे अपने समाज के वैभव में खोखलापन दिखाई देता था। निराशा का भी महत्त्व होता है। वह क्या मनुष्य है जो केवल यही कहता है कि निराशा कुछ है ही नहीं ? निराशा या तो अभाव से जन्म लेती है, प्रस्तुत को नगण्य मानती है, या अप्रस्तुत की ओर गतिशीलता में बाधा आने से सिर उठाती है। कभी-कभी वह आत्म-संतोष की लहर भी बनती है। वस्तुस्थिति का सामना करने की शक्ति भी कभी-कभी उसमें से प्रस्फुटित होती है :

विरह की स्वीकृति मिलन-अधिकार बन जाये !
कण्ठ मेरा रुक गया है
प्राण ! अब गाया न जाता
गीत है मेरा अधूरा
भेद बतलाया न जाता,
एक है आशा यही तो—
तुम्हें छूकर मौन भी झंकार बन जाये !
विरह की स्वीकृति मिलन-अधिकार बन जाये !
मिट गये प्रासाद मेरे
कामनाएँ बुझ गयी हैं

वासना से दहकती सब
साधनाएँ बुझ गयी हैं,
प्रतीक्षा है शेष इतनी—
तुम्हें पा श्मशान ही संसार बन जाये !
विरह की स्वीकृति मिलन-अधिकार बन जाये !
सँदेशे अब जा न पाते
तुम्हें कुछ बतला न पाते,
हृदय का शाश्वत निमन्त्रण
अश्रु अब पहुँचा न पाते,
एक ही अब सहारा है—
याद ही केवल तुम्हारी—प्यार बन जाय !
विरह की स्वीकृति मिलन-अधिकार बन जाये !

—मुंशी रामनाथ 'सुमन'

इस विषय में अंचल अधिक प्रवीण है। उसकी वेदना में सदैव कोई न कोई नया बीज अपना नाश करके नया अंकुर दिखलाता हुआ प्राप्त हुआ करता है। उसके शब्दों में एक झकझोरती चाल मिलती है :

मैं प्रभंजन से पिटे
तरुपात जैसी अनमनी हूँ,
यह अचीन्ही-सी रुलाई
चितवनों को घेरती-सी
किस अजाने देश के जाने
पथिक को टेरती-सी
कौन कहता है—कहीं वह और है,
इस ठौर ना रे !
खोजने उसको अरे तू
प्राण के स्वर दूर जा रे !
कल्पना से भी न कम
होती बड़ी घनघोर दूरी
प्राण से बँधने न देती
प्राण को परिणति अधूरी
आज अपनी ही अपूरित
लालसा की मैं अनी हूँ

आज अंकुरिता धरित्री-सी
अचेतन अनमनी हूँ,
आज लगता है कि मैं
बहते कुहासे की बनी हूँ।

—अंचल

प्राण से प्राण को अधूरी परिणति नहीं बंधने देती, कहता हुआ कवि व्यक्त करता है कि मैं तो अपनी ही अपूरित लालसा की अनी हूं, जो कि अपने ही हृदय में गंस गई हूं, चुभ रही हूं। धरित्री अंकुरिता तो हो गई है किंतु अभी भी वह अचेतन और अनमनी है। ऐसा लगता है कि सब ओर एक बहता हुआ कुहासा छा गया है, वह कोई और नहीं, स्वयं मैं हूं। जिसे मन ढूंढ रहा है, अंचल, उसे दूर का नहीं मानता, परंतु उस तक पहुंच नहीं पाता। क्यों ? क्योंकि उसकी प्रेरणा उस पत्ते जैसी है जो-कि प्रभंजन से पिटकर अनमना हो गया है। वह पत्ता अभी तक गिरा नहीं है। अभी तक जीवित भी है, परंतु उसने एक बहुत बड़े तूफान को झेला है। उसको इस आकस्मिक आघात ने पुराने विश्वासों से विचलित कर दिया है। वह उसकी आशा भी तो नहीं करता था, किंतु जब वह आ ही गया तो उसने झेल तो डाला, पर मन से वह अब अनमना हो गया है। अंचल की राह अजानी है तो क्या, उसका उसे अभिमान है, और अभिमान भी कैसा कि अनमना :

मैं अजानी राह के
अभिमान जैसी अनमनी हूँ।
किस तिरस्कृत यातना से
दर्प का सुकुमार खँडहर
आज मिटने और बनने
की क्रिया का सेतु बनकर
हार जाता आज अपने
ही भयानक मौन से फिर
मरण-सीमा-रेख पर जैसे
पराजित साँस तिर-तिर
सुन रहा है आज अपने
व्याप्त तम का आर्त क्रंदन
दूर तक फैली असंगति
के धुएँ का क्षुब्ध गर्जन
मैं विफलता के इसी जलते
धुँधलके से छनी हूँ।

—अंचल

ऐसी तिरस्कृत यातना है कि दर्प का सुकुमार खंडहर, अर्थात् वह अहं, जो है तो बड़ा प्यारा और कोमल परंतु अब खंडहर हो गया है, मिटने और बनने की क्रिया में एक पुलमात्र-सा रह गया है, विनाश और निर्माण के दोनों पक्षों में एक तारतम्य बांध देना चाहता है। आज वह नये व्यत्यास के कारण अपने सब गुणाकार भूल-सा गया है और तब उसे अपना मौन स्वयं ही डराने लगता है। उसका व्याप्त अंधकार आर्तक्रंदन करके उसके कानों में गूंज रहा है। मरण की सीमा पर सांसें तिर-तिरकर हारती जा रही हैं। असंगति का धुआं फैलकर क्षुब्ध गर्जन कर रहा है। ऐसी निष्फलता के धंधुलके में एक जलन है, एक दाह है, एक तड़पाने की, भस्म करने की शक्ति है, और आज कवि की चेतना अनुभव करती है, वह इसी व्याप्त दाह में से जन्म ले रही है।

ऐसे दाह की कसक क्या न कहलाएगी ? उसका अनुभव करना क्या सहज है ? क्या यह अनुभूति नये विश्वासों को आधार नहीं देती ? कल्पना की लंबी उड़ानों के माध्यम से नया कवि जो चकाचौंध उत्पन्न करता है, अपनी प्राप्ति को ही इतनी गहराई देता है, यह नये काव्य का एक विशेष सौष्ठव है। धर्मवीर भारती की प्रिया लेटी है, और उसके दोनों पांव उसकी गोद में रखे हैं। कवि उन पांवों के माध्यम से अपनी प्राप्ति की श्री का वर्णन करता है और अपने विश्वासों को फिर से झकझोरना चाहता है :

ये शरद के चाँद-से उजले धुले-से पाँव मेरी गोद में !
ये लहर पर नाचते ताज़े कमल की छाँव मेरी गोद में
दो बड़े मासूम बादल, देवताओं से लगाते दाँव मेरी गोद में !
रसमसाती धूप का ढलता पहर,
ये हवाएँ शाम की झुकझूमकर बिखरा गईं
रोशनी-से फूल हरसिंगार से
प्यार घायल साँप-सा लेता लहर
अर्चना की धूप-सी तुम गोद में लहरा गईं,
ज्यों झरे केसर तितलियों के परों की मार से,
सोनजूही की पंखुरियों पर पले ये दो मदन के बान मेरी गोद में
हो गये बेहोश दो नाज़ुक तूफान मृदुल मेरी गोद में !
ज्यों प्रणय की लोरियों की बाँह में झिलमिला कर
और जला कर तन, शमायें दो
अब शलभ की गोद में आराम से सोयी हुईं
या फरिश्तों के परों की छाँह में दुबकी हुईं, सहमी हुई हों पूर्णिमाएँ दो
देवता के अश्रु से धोई हुई

चुंबनों की पाँखुरी के दो जवान गुलाब मेरी गोद में
सात रंगों की महावर से रचे महताब मेरी गोद में !

×

ये खँडहरों में सिसकते, स्वर्ग के दो गान मेरी गोद में
रश्मि पंखों पर अभी उतरे हुए वरदान मेरी गोद में !

—धर्मवीर भारती

कुछ आलोचकों का मत है कि यह वर्णन प्रयोगवाद के अन्तर्गत आता है। ऐसा तो कुछ नहीं, क्योंकि प्रयोगवाद है ही क्या ? भारती की कविता में हमें एक बड़े चेतन हृदय की शक्तियां काम करती दिखाई दे रही हैं, जिसने चरणों की छविमाया को तो माध्यममात्र बनाया है, अन्यथा उसने रूप की रसवती धारा की सजीव प्रतिमाएं एक के बाद एक खड़ी कर देने की चेष्टा की है। अपने यौवन के सारे रूप की उफान को वह अपनी पंक्तियों में समेट कर ले आया है। इस क्षण अतीव विह्वलता अपनी तृप्ति में अपनी ग्लानि का विसर्जन करती है और गति की चपलता कुछ क्षण ठहर जाती है, गति के प्रतीक चरणों की लावण्यमयी सम्मोहिनी कवि की तन्मयता से अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेती है, इसीलिए वह देवताओं से दांव लगानेवाली स्पर्धा को भी जन्म देती है। यह देखने योग्य है कि नारी के चरणों को इतना वंदनीय हमारे प्राचीन आचार्य नहीं बना पाए थे। इस कविता में धरती की दौंगरेवाली गंध तो मिलती है, इसमें बरसात की हहर नहीं मिलती। इसमें अपना महत्त्व न लुप्त है, न मुखर, जैसा कि अन्यत्र हम 'मैं' को ऊपर देखते हैं :

मैं तुम्हारी वन्दना का एक स्वर हूँ
ज्योति की चिर साधना का फल अमर हूँ
पंक से निकला खिला हूँ मैं कमल-सा
गल रहा स्मृति में किसीकी हिम-उपल-सा
खींचता जो प्राण-शलभों को अनल-सा
रूप के उस कल्पना-वन का भ्रमर हूँ
शून्य में दिग्भ्रांत हूँ मैं ज्योति गुंजन
घेर जिसको कर रहा मधुमास क्रंदन
दग्ध मेरा है हृदय आनन्द नन्दन
दूर प्राणों तक चुभा मैं प्रेम-शर हूँ,
मैं तुम्हारी वन्दना का एक स्वर हूँ

—आरसीप्रसाद सिंह

यद्यपि यह सत्ता प्रेम की स्वीकृति है, किंतु प्रेम का शर बनकर उसने जीवन की अखण्ड चुभन और वेदना को ही प्रश्रय दे दिया है। रूप उसके चारों ओर है, फिर भी भ्रम से निवारण नहीं हुआ है और यह हाल तो तब है जब वह ज्योति की चिरंतन साधना

का अमर फल है।

प्रेम का तूफान जब आहों में मचल-मचल पड़ता है, जब अभिमान का अनय बूंदों के रूप में पिघल-पिघल उठता है, तब जीवन के पीछे मरण को लगाकर गिनने-वाला नित्य ही दिन गिना करता है। जीवन के लोभी, तुमने मुझे पहचाना नहीं!

(हंसकुमार तिवारी)

जीवन की पहचान करनेवाला नया कवि यह मानता है कि जीवन का महत्त्व उसके गीत में है। उसका गीत उसके बड़े ही कोमल अंश से जन्मा है। गीत पर उसे बड़ा अभिमान है, बल्कि बहुत-कुछ जीवन की शक्ति तो वह अपने गीत में ही खोजता है क्योंकि उसका और कोई सहारा ही नहीं है। उसने बहुधा अपने गीत को शाश्वत कहा है, क्योंकि जीवन की इकाइयों की नश्वरता में, समूह में भाव-माध्यम से एक से दूसरे तक पहुंचनेवाला उसका गीत ही है। इस गीत को सगुण का सहारा नहीं, न निर्गुण की भांति इसमें केवल दर्शन का प्रतिपादन है, बल्कि इसमें शून्य की भी चिंतना नहीं है, जितनी कि इसमें 'स्व' की अभिव्यक्ति है। इसीलिए उसे अपने गीतों से प्यार हो गया है। गीत उसकी रूपचेतना के वाहक हैं, वे हैं जिनके आसरे से वह अपनी नौका को खे रहा है। कवि कहता है :

गुनगुनाता हूँ निरन्तर इसलिए,
शेष गीतों से मुझे अब प्यार है।

उलझनें पथ में अनेकों बार आयीं, हार उनसे थी कभी खायी नहीं,
पैर कितनी बार काँटो पर छिले, आह मुख पर थी कभी आयी नहीं,
किन्तु ज्योंही पग बढ़े पाया यही,
दूर ही रमणीय ये संसार है।

विश्व के सूखे हुए पतझार में, झूम जो चहुँ ओर हरियाली रही,
है न मादक प्यास उससे बुझ सकी, रिक्त ही जग की सदा प्याली रही,
फूल कितना ही सुधा छवि हो लिए,
किन्तु झड़ने को हुआ विस्तार है।

स्वप्न-सी मुस्कान आती है कभी, क्योंकि जग इतना हुआ विश्रांत है,
है दिवाकर भी भटकता रात दिन, क्योंकि वह भी ताप से आक्रांत है,
घूमते ही बीत उसको युग गये,
किन्तु कर पाया न निज उपचार है।

मुस्कराता है सदा कुछ देर को, दीप बुझने के निकट जब पहुंच जाता,
टूटने के कुछ तनिक पहले सदा, तार वीणा का मधुर-सा स्वर सुनाता,
पर मधुरता रह न पाती चार क्षण,
व्यर्थ सब बातें नहीं कुछ सार है।

मौन जो यह शांत नीलम नभ खड़ा, है न यद्यपि आज मुखरित शेष वाणी,
किन्तु निज छाले दिखा वह कह रहा, क्रूर जग की क्रूरतम बीती कहानी,
है सदा उपकार उसने जो किया,
यह दिया जग ने उसे प्रतिकार है।

देखकर मन आज चंचल हो उठा, किन्तु गीतों से सहारा पा रहा हूँ,
भावना को रूप भाषा का दिए, विश्व की बीहड़ डगर पर जा रहा हूँ,
है यही विश्वास ये जीवित रहेंगे,
इसलिए उर का हिला हर तार है।

—सुरेशचंद्र सेठ

उलझनें आई और बार-बार उनसे संघर्ष करना पड़ा। हार उनसे कभी नहीं खाई। कांटों से पांव छिल गए पर आह कभी नहीं भरी। किंतु यह अवश्य देखा कि चलने पर इस संसार को दूर ही से रमणीय पाया। कितनी भी तृप्ति खोज डाली, किंतु अतृप्ति ने कभी भी पल्ला नहीं छोड़ा। यहां तो निरंतर गति है, गति है, गति है··· उसको न कोई रोक पाया है, न स्वयं ही रुक सका है। क्योंकि रूप टिका हुआ नहीं रह पाता। इसलिए सब कुछ निस्सार-सा लगता है। अब यदि कहीं सहारा है तो इन गीतों में है, क्योंकि गीत इतने नश्वर नहीं हैं, ये जीवित रहेंगे···ये जीवित रहेंगे···

कवि का विश्वास है कि वह अपनी कोमलतम कल्पनाओं को सहेज कर रखे। अपने भौतिक अस्तित्व में मनुष्य उतना सुन्दर कहां है जितना अपने भौतिक के गुणात्मक परिवर्तन के रूप में, अपनी चेतना के रूप में ? उसके स्वप्न उसकी चेतना के दिए हुए दान हैं। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने इस स्वप्न का चित्र उपस्थित किया है :

चले आ रहे हैं सपने यों—
ज्यों रेतीले, गीले-गीले, डूब रही किरणों से पीले
तट पर अविरल, महा उदधि के सांध्य ज्वार में
धूम मचाते, फेन उड़ाते,
दूर-दूर तक हंस-परों सी उज्ज्वल निर्मल क्षण-क्षण फेनिल
दूध धुली दीवार बनाते,
लहरों के रेले पर रेले उमड़े आते मन की अस्थिरता से विह्वल !

चले आ रहे हैं सपने यों—
लिये अंक में विद्युत की बालाएं चंचल
संग नाचती बूँदनियों के बजते छागल
सावन के घन-नील-गगन में,
उमड़े, बढ़े, चले आते ज्यों अलबेले, कजरारे, बादल !
चले आ रहे हैं सपने यों—
गिरि प्रदेश में क्षण-क्षण पल-पल
होड़ किये मोटर की गति से, दीख पड़ा करते हैं जैसे
एक दूसरे के पीछे से उभरे आते
एक दूसरे की स्पर्धा में बढ़ते जाते शिखर हिमोज्ज्वल !

—उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

स्वप्न मनुष्य को आगे बढ़ाते हैं। क्रिया बाद में आती है, पहले विचार आता है। अवश्य ही यह विचार किन्हीं विशेष रूप-क्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होता है, किंतु जब वह आता है तब इस जीवन में एक उद्भास-सा होता है, अपने जीवन की सार्थकता का अनुभव होने लगता है। उन स्वप्नों ने मनुष्य की निरीह से निरीह अवस्था में उसको आसरा दिया है। हमारे सारे अवतार मनुष्य के स्वप्नों के ही तो प्रतीक हैं, जो मनुष्य की भावनाओं के कोमलतम होते जाने के साथ कोमलतम स्वरूप पकड़ते चले गए हैं। हमारे स्वप्न हमारे भविष्य-निर्माण की आधार-शिला हैं, वे आनेवाली पीढ़ियों के स्वस्थ और सुखद कल्याण की पूर्वपीठिका हैं।

इसीलिए नये कवि-हृदय ने अपने प्रेम और वासना से भी ऊपर रूप की कल्पना को स्थान दिया है और वह मानता है कि यही है वह जो मनुष्य को सुंदरतर बनाएगा, क्योंकि उसीका सम्बन्ध मनुष्य के 'मूलराग' से है, और वह 'राग' उसका सबसे धीरे परिवर्तित होनेवाला 'भाव' है। मनुष्य की बौद्धिकता उसकी चरम उन्नति नहीं, वह तो बहुत तेज़ी से बदलनेवाली वस्तु है, तभी कहा है :

भावों का आदेश मान कर
लिखती जा तू गीत !
और गीत जिनमें अंकित हों
जीवन के उद्‌गार
वे उद्‌गार मुक्त मन को जो
कर दें कारागार
कारागार जहाँ फूलों के
बंधन से शृङ्गार
वह शृङ्गार कि जो युग-युग से

कवियों का आधार
वह आधार कि जिसपर आश्रित
किसी हार की जीत !
×
जिसकी उंगली ने है मेरा
किया पंथ निर्माण
ह निर्माण कि चाह रहा जो
अग-जग का कल्याण
वह कल्याण छिपा है जिसमें
मौन विगम बलिदान
कर बलिदान जिसे समझा है
सबने ही अवसान
पर जिसपर अवलंबित मेरे
सपने आशातीत !

—शान्ति

अतः हम कह सकते हैं कि नये कवि का स्वर मूलतः आशावादी है और इसीलिए वह आनेवाले युग की समवेदना का बीज पृथ्वी पर डाल सका है। उसने इस बार ममाखियों की भांति मधु एकत्र किया है, क्योंकि उसे बहुत विशाल और विस्तृत उपवन के अलग-अलग तरह के फूलों के चक्कर काटने पड़े हैं।

भोर से सांझ तक

प्रकृति ने नये कवि को नये प्रकार की प्रेरणा दी है। वैसे तो हमें महाकवि भट्टि में भी बहते जल में पिघलती किरणों का प्रकाश मिल जाता है और मध्यकालीन कविता में भी ऐसे नये प्रकार के वर्णन मिल जाते हैं, किन्तु नये युग को छायावाद की विरासत मिली। छायावादी युग में प्रकृति अधिकाधिक अपने मानवीय स्वरूप में उतरी और कहीं-कहीं उसके प्रति विस्मयमूलक भावना ने भी अपना प्रदर्शन किया। अन्यत्र उसमें 'महान' की छाया अपनी रंगीनी की झलक देती रही, और कहीं उसमें विलास के बीज भी पलते हुए दिखाई दिए।

नये कवि ने प्रकृति के सारे शास्त्रीय वर्णनों के पक्षों को अपने भीतर समेटा। यही नहीं, उसकी कलम ने अनेक स्याहियों में अपना मुंह रंगा और अपने मन की भावनाओं को उसने अनेक रूप दिए।

सबसे विशेष बात जो हमें मिलती है, वह यह नहीं है कि यहां केवल प्रकृति-चित्रों का वैविध्य मिलता है, परन्तु वह यह है कि यहां हमें प्रकृति से सबसे अधिक सम्बन्ध दिखाई देता है। और प्रायः ये कवि नगरवासी हैं! फिर भी आज की यांत्रिक सभ्यता ने उन्हें अपनी पूरी शक्ति लगाकर प्रकृति के समीप जाने की प्रेरणा दी है।

उनको हम प्रकृति में अपनी स्वप्नवती सर्जना को पल्लवित करते देखते हैं, उन्हें हम प्रकृति में न केवल छवि ढूंढते देखते हैं, वरन् हम उनके मन की विभिन्न परिस्थितियों को प्रकृति के आंचल में ही खुलते हुए देखते हैं। चेतना के रंध्रों में जैसे एक ही ध्वनि मिलती है कि हमें अपने को अधिक से अधिक व्यापक बनाना है। प्रकृति के वैविध्य में मनुष्य का अपना सान्निध्य बनाना उसके अंतस् की उथल-पुथल तो दिखाता ही है, किन्तु हम उसमें उसकी आशा-निराशा, सुख-दुःख, संवेदना, सबको ही मुखरित या मौन होते हुए पाते हैं। प्रतीकों के संयोजन में जितना वैचित्र्य नये कवि को प्रकृति के माध्यम ने दिया है, उतना अन्य किसीने नहीं। मन के भीतरी स्तरों की वास्तविक परिस्थिति का भी वर्णन करने के लिए वह प्रकृति की ओर झुकता हुआ दिखाई देता है। उसको हम भोर से सांझ तक प्रकृति के साथ पाते हैं। रात बीतती आ रही है:

बीतती अब आ रही है रात
जाग री अब जाग!

झाँकता नभ के झरोखे प्रात
विहग के सुन राग।
बह उठीं रिमझिम हवाएँ, दीप की अंतिम शिखाएँ—
बुझ चलीं, काली दिशाएँ हो रहीं क्रमशः विमल, अवदात !
कर उठे फिर क्रौञ्च कूजन, मञ्जरों पर मधुप गुञ्जन
प्रस्फुटित होते कुसुम के ओस से भीगे हुए-से गात !
कलुष यद्यपि धो चुका है, आँसुओं में रो चुका है
पर तिमिर बल खो चुका है, रश्मिरथ पर आ रहा सुप्रभात !
विगत जीवन से विलग हो सजनि, तू भी अब सजग हो,
द्युति-विचुम्बित, खिल रहा है नव्य जीवन का सरस जलजात।
बीतती अब आ रही है रात।

—राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह

नभ के झरोखे से प्रात विहग के राग सुनकर झांकने लगा है। तुलसी के—'जागिए रघुनाथ', सूर के 'जागिये गोपाल' तो अपने उपास्य के बालरूप को अहर्निशाराधना में जगानेवाले गीत थे, जिनमें पूज्य भाव सन्निहित था। निराला के प्रभात-वर्णनों में हमें स्निग्धता नहीं मिलती। महादेवी वर्मा की 'जाग जाग सुकेशिनी री' अपनी अस्पष्ट चित्रात्मकता के कारण बोझिल थी। प्रसाद की 'बीती विभावरी,' में भी 'आली' का जागरण अत्यन्त हृदयग्राही होकर भी सांकेतिक छायाओं से ग्रस्त था। किन्तु नये कवियों ने प्रभात के अनेक रूपों में वर्णन किए। यहां हवाएं रिमझिम हैं, जैसे वे फुहार छोड़ रही हैं। क्रौञ्च फिर बोलने लगते हैं, वही क्रौञ्च जिनके वध से आदिकवि की करुणा जागी थी। नये कवि ने उसी क्रौंच के स्वर में जागरण का स्वर पाया है, जो मानो उसने नवीन को नये ढंग से पहचाना है। अब तो कलुष यद्यपि धुल चुका है, फिर भी आंसू ही तो इस स्वच्छता को लाने में समर्थ हुए हैं। हे सजनी ! जो बीत चुका है, वह तो बीत ही चुका। अतीत के जीवन से अलग हो जा। अब तो नया प्रभात है। नये जीवन का सरस जलजात खिल रहा है और वह द्युति से चुम्बित है। कमल के फड़कते हुए दल हमारी आंखों के सामने आ जाते हैं। यह सजनी तो नयी मानवता है। अन्यत्र कवि कहता है :

भोर हुई, लो चली जुन्हाई !
नभ-पथ में लाकर सोने का रथ
सूरज ने बिदा कराई !
धानी अंचल में मुट्ठीभर
शबनम की मिल गई बिदाई !

पाकर भी सोने के गहने
लगी चाँदनी पीड़ा सहने
किरण-तार की धूप-चुनरिया में
गोरी काया कुम्हलाई !

—राजनारायण बिसारिया

चांदनी फीकी पड़ गई। आखिर वह कितना भी प्रकाश क्यों न करे, क्या इस प्रभात की तुलना में खड़ी रह सकती है ? जुन्हाई को विदा कराने आकाश के पथ में सूर्य सोने का रथ ले आया। विदाई में आंसू आना अनिवार्य है। आकाश में सुनहली छाया है, वही धानी अंचल है। मुट्ठी-भर ओस की बूंदें उसमें डाल दीं। विदा की भेंट चढ़ गई। ओस में तरलता भी अपने-आप आ ही गई और यह भी व्यक्त हो गया कि प्रेम का अंत तो वेदना में ही है। किन्तु यह भी स्पष्ट हुआ कि जाना अवश्यम्भावी है, उससे तो कोई मुक्ति नहीं। और फिर नारी-जीवन की विवशता आ गई। सोने के गहने पाकर भी चांदनी तो पीड़ा सहने लगी। किरण-रूपी तार की धूपरूपी चुनरिया ओढ़ लेने के कारण चांदनी की गोरी काया कुम्हला गई।

राजनारायण ने सांगोपांग रूपक उपस्थित किया है। जुन्हाई की पलकें झंपी-झंपी ही रहती हैं, यह तो शब्दों की अनुभूति की बात है, जिस प्रकार चंद्रिका में छिटक और खुली आंखें, चांदनी में मुस्कान और तृप्ति-भरी अंखियां, ज्योत्स्ना में स्वप्निल नयन और सिहरते गात का चित्र आ जाता है, जुन्हाई में एक नवेली की झलक हमें प्राप्त होती है।

प्रभात में प्राची का अंधकार दूर हो जाता है। अंधकार मानो एक तमाल का वृक्ष है। जयदेव ने भी तमालवर्णी मेघों की छाया का वर्णन किया है, सघन और श्यामल। वह वृक्ष अब हल्का हो गया है, क्योंकि सकाल आ गया, वही सकाल जिसका अपभ्रंश 'सकारे' है :

लो प्राची का वह तम-तमाल
हल्का होता, आता सकाल ;
तारे होते जाते उदास ;
खगकुल का स्वर-सविता-विलास
लय गीत छंद में अनायास
कर जाता है कविता-विकास !
देखो देखो भूतलप्रसार
व्यापक अम्बर का आर पार
नीचे गंगाजल औ' कछार
अवसित धुंधले तम को उतार

पीड़ा आशंका शोक त्याग
हल्के हो, पहने रूपराग
लख बालारुण का जन्मकाल
हो गये सुनहले लाल-लाल

—केदारनाथ अग्रवाल

प्रभात क्या हुआ, तारे तो उदास हुए ही, किंतु पक्षियों ने कलरव प्रारंभ कर दिया। वह स्वर सूर्य के विलास की भांति उजागर होता हुआ फैल गया और अनायास ही उसमें लय और छंद आकर भर गए। उसने कवि के हृदय में झंकार भर दी, वह स्फुरित होने लगा। कवि विस्मय से कहता है कि देखो, देखो, आकाश से पृथ्वीतल तक कितना व्यापक प्रसार है! और अम्बर नीलम-सा आर-पार प्रशुभ्र दिखाई देता है। क्योंकि गंगाजल और कछार में उसका बिंब उतर गया है। और वे अपने विषाद को त्यागकर नई शोध से खिल उठे हैं क्योंकि नये अरुण का आकाश में जन्म हो रहा है। प्रभात में नये जीवन का जन्म देखकर किसपर सुषमा की शोभा न खिल उठेगी!

प्रभात केवल बाह्य वर्णनों में ही सीमित नहीं है। वह तो सर्वत्र छा गया है।

जिस प्रकार नदी में आकाश सो जाता है उसी प्रकार कवि भी अपनी प्रिया की बाहुओं में आकर अपनी सीमाएं खो देता है। तब गीत ही प्रभात बन जाता है, मानव के संगीत में ही जागरण प्रतिध्वनित होने लगता है:

आज सिंधु-कन्या की गोदी
में विराट आकाश सो गया,
आज तुम्हारे बाहु-बंध में
मैं अनंत निस्सीम हो गया।

×

मुस्काकर आशिष दी तुमने
गीत अमर हो जग में तेरा,
तू गाये तो सकल लोक में
नवयुग का हो जाय सवेरा।

—वीरेन्द्रकुमार जैन

प्रातः की रश्मि से जागरण छनने लगा, मानो आकाश और हरीतिमा के सघन जाल से वे किरणें फूट-फूटकर निकलने लगीं। आकाश एक श्यामल भूमि की भांति दिखाई देने लगा। उसपर पड़े हुए नक्षत्र ओस-कणों की भांति डबडबाते-से कुछ क्षणों के लिए कांपते-से दिखाई देने लगे। धूल पर जब आलोक का रंग चढ़ने लगा और अंधकार की गहरी छायाएं दूर होने लगीं, तब फूलों पर लाज-भरी मुस्कान खेलने लगी। चारों ओर प्रशांत निस्तब्धता छाई थी। वही तो प्रभात की तन्मयता की शीतल बेला थी। विश्व-छवि के सलोने होंठों को चूमता हुआ मौन अपने भीतर

संगीतात्मकता को भरने लगा, मानो मौन ही अपने श्रवण-मनहर सौन्दर्य-नाद को धीरे-धीरे गुंजाने लगा। यह समस्त दृश्य तो ऐसा है मानो अर्चना स्वयं ही देवता के चरणों पर चढ़ रही हो!

प्राप्त की रश्मि से छन रहा जागरण
व्योम का हर नखत बन गया ओसकण,
ज्योति का रंग चढ़ने लगा धूल पर
लाज भी मुस्कराहट बनी फूल पर
कूल से मिल रही बावरी हो लहर
चूमता विश्वछवि के सलौने अधर
मौन भी कर रहा रागिणी को वरण
अर्चना चढ़ रही देवता के चरण।

—भगवद्दत्त मिश्र

प्रभात ने नये कवि को जब मिलन की तृप्ति दी है तब उसे इसी धूल में स्वर्ग दिखाई दिया है और स्वर्ग की छलना को उसने तिरस्कार किया है। वह असल में मिलन की तृप्ति है या नये आलोक की, यह तो स्पष्ट नहीं होता, किन्तु किरणों का हिन्दोल अवश्य मन को भुलाने लगता है। विश्व को वृन्त कहना व्यापक दृष्टि का सूचक है

किरणों का हिन्दोल मिलन की परी रही है भूल
विश्व-वृन्त पर अन्तहीन खिल उठा मिलन का फूल।
धूल आज बन गई स्वर्ग है और स्वर्ग है धूल,
अब न अभाव अतृप्ति कहीं है, कहीं न मन की भूल।
शैल हृदय में समा सका जो नहीं मिलन का मोद,
वही सरित बन फूट पड़ा है आज विजन की गोद।
ताली बजा तरंगें करतीं उठ-उठ करके लास,
मिलन बाँसुरी आज बज रही है प्राणों के पास।

—हरिचन्द्रदेव वर्मा 'चातक'

इसी नवीन जागरण की चेतना से पुलककर नया कवि कहता है :

मृत्यु से डरता नहीं हूँ
और जीवन प्यार करता हूँ,
तोड़ देतीं साधनाएँ
मौत की माया उमड़ कर,
किंतु मैं कायर नहीं हूँ
जड़ अशिव का घर नहीं हूँ,
ठोकरें सहता रहूँ जो
राह का पत्थर नहीं हूँ,

क्योंकि—
स्रोत हूँ मैं चेतना का
दूत हूँ मैं जागरण का
युग-उषा की साधना का—

—शिवमूर्ति 'शिव'

यह तो हुआ प्रभात का मन से सम्बन्ध, सृष्टि और समाज के प्रति दृष्टिकोण, किंतु वैसे प्रभात के असंख्य वर्णनों में से हम एक और प्रस्तुत करते हैं क्योंकि उसमें हमें ग्रामीण जीवन की बड़ी सरस झांकी मिलती है, उसमें लोकगीत की सी चपलता है और मीठी-मीठी रागिनी उसमें से गूंजती हुई सुनाई देती है। सरल भाषा में एक लहरों का सा कंपन है। खुली हवा है, रेत में दूर तक बाजरे के खेत दिखाई दे रहे हैं, प्रातः काल का उदय हो रहा है और पहाड़ियां हंसती हुई दिखाई दे रही हैं, उस समय कवि देखता है :

तलहटी की रेत में
बाजरे के खेत में
भोरे भोरे छोहरियाँ भैरवी जगा रहीं।
तुलता अनुराग-बाण, खिलता हँसता विहान,
खिल रहे कपोल लाला-लाल आसमान के
और लाख-लाख बिन्दियों से ठौर-ठौर मौर
सज रहे जहान के, जिनके राग रंग में
भोरे भोरे छोहरियाँ डुबकियाँ लगा रहीं।
हँस रहीं पहाड़ियाँ, स्वर्ग की अटारियाँ,
हँस रहे नयन छलक-छलक नदी की धार में
बज रहे सितार मंद्र-मंद्र तीर-तार में
जिनकी तरल तान को
भोरे भोरे छोहरियाँ मीठे-मीठे गा रहीं।
तितलियों के नेह से
भोर की हवा में खेल खिल रही है पत्तियाँ
ओस के सनेह से
जग रही हैं आरती-सी दूबियों की बत्तियाँ
जिनको अपने चाव से, गीत के प्रभाव से,
भोरे भोरे छोहरियाँ भाव में डुब रहीं।
पंछियों की रागिनी
चहचहा रहीं फुदक फुदक नदी कछार पर
मछलियाँ सुहागिनी

झाँकती गगन लहर-लहर के पट उघार कर
जिनको अपने बोल से, कण्ठ के किलोल से
भोरे भोरे छोहरियाँ प्रेम में पगा रहीं।

—रामगोपाल शर्मा 'रुद्र'

किंतु प्रभात की श्री केवल रूप-सुषमा के माध्यय में उतनी नहीं हुई जितनी कि समाज-पक्ष की नई हलचल को व्यक्त करने में। उसका वर्णन हम अन्यत्र करेंगे। प्रभात से भी अधिक व्यक्ति-पक्ष की रूप-सुषमा में यदि कवियों को किसीने अधिक रिझाया है तो वह सांझ ने, आती सांझ ने, जाती सांझ ने, रात में बदल जाती सांझ ने, उस रात ने जिसने सांझ को पी लिया है और उषा को जन्म दिया है।

प्रभात में हर सांस में शत बार जीवन की पंखुरियां खुलती हैं। और हर चरण में शक्ति-सिन्धु तरंगित हुआ करता है। संस्कृति के दीप के नीचे अब अंधकार इकट्ठा नहीं होता, मनुज ने जिस व्यूह में अपने-आपको बांध लिया था अब वह टूट गया है क्योंकि वह मुक्ति की ओर बढ़ रहा है। ब्रह्मवेला में ही कवि पूंजीवाद का क्षय देखता है। वह डूबते मस्तूल देखता है और दानव की पराजय का अवलोकन करता है :

खुल रहीं हर साँस में शत बार जीवन की पँखुरियाँ
हर चरण में है तरंगित शक्ति-सिन्धु अपार।

×

अब न संस्कृति-दीप की लौ के तले
शव-सी पड़ी परछाइयाँ हैं
आज जन-मन-शेष काँपा—
टूटता है अब मनुज-व्यापार का वह व्यूह—

×

छिप गये हैं काल-अम्बुधि में सदा को दानवी मस्तूल
खुल गया इतिहास का आग्नेय लोचन
जल रही हो क्षार पूँजीवाद की यह पाप-काया
मृत्यु के लघु सेतु पर ही
आज मानव ने अमर हो शक्ति का वरदान पाया।

×

मुक्त तन-मन ले रहा अँगड़ाइयाँ है
कर रहा निज शक्ति का अनुमान
खुल रही हर साँस में

शत बार जीवन की पँखुरियाँ
उड़ चले नूतन विचारों के चपल खग—
देख स्वर्ण विहान !

—शरदचन्द्र मिश्र

यह तो वर्ग-संघर्ष की भावना व्यक्त करनेवाला विचार है। प्रभात में जागरण की भेरियां सुनना इस दौर से पहले का एक आम रिवाज था। उस समय राष्ट्रीय संघर्ष प्रमुख था। इस संघर्ष में दो पक्ष थे। एक वह जो कि प्रचार के स्तर पर था। दूसरा वह जो छायावादी शैली में से आया था। इस दूसरे पक्ष के कवियों में हमें सौंदर्य के प्रति तो आसक्ति छायावादियों की सी ही मिलती है, किन्तु वे प्रिया का गीत गाते समय भी क्रांति को नहीं भूला करते थे।

प्रभाती में सुधीन्द्र ने ऐसा ही उद्‌बोधन प्रस्तुत किया है। यह कविता जनता की भीड़ों के लिए लिखी गई थी क्योंकि इसका उद्देश्य ऐसा ही था, पर शायद वैसी यह है नहीं :

जाग ओ मधुवर्षिणी !
रसरंगिणी ! अब गा प्रभाती
सुमन शय्या पर सुकोमल
रात के भुजबंध बिखरे
देख ज्वाला कल्पना के
स्वप्न-पट के चित्र सिहरे
अब न और मदालसा की
किंकिणी है झनझनाती।

×

अब धमनियों में प्रकृति की
फैलती है ज्योति धारा
पहन ली उसने हृदय पर
रश्मि माला तिमिरहारा
आ रही है आरती ले
क्रान्ति मंगल गीत गाती !
जाग वीणा वादिनी ! प्राची-
विभा वीणा बजाती

—सुधीन्द्र

मधुर्वषिणी प्रभाती क्यों नहीं गाएगी ? अब मदालसा की किंकिणी कहां बजती है ! प्रकृति की धमनियों में ज्योति-धारा फैल रही है। क्रांति आरती-सी उतारती हुई मंगलगीत गाती चली आ रही है।

प्रभात की इस व्यापक गरिमा ने वर्ग-संघर्ष के चित्रण में तो बहुत ही अस्तित्व बनाया है, किन्तु संध्या के वर्णनों में प्रभात से भेद रहा है। संध्या में हमें यह उजागर स्वर प्रायः ही नहीं मिलते, बल्कि छायावादी परम्पराओं और अभिव्यक्तियों को अधिक प्रश्रय मिलता है।

और संध्या की शीतल छाया जो दिन की जगमग के बाद आती है, वैसे तो वह सदा से ही मनहरण होती है, परन्तु नये कवियों ने अपना बहुत कुछ उसपर उंडेल दिया है। प्रायः ही संध्या के बहुत सुन्दर चित्र मिलते हैं। उनमें हमें विभिन्न स्वर सुनाई देते हैं।

सांझ स्वप्निल है, सांझ बोझल है, सांझ थकन है, थकान की विस्मृति है। सांझ में प्यार है, निराशा का अंधकार है, सांझ में वेदना में, आशा का दीपक है, सांझ में नये कवि का मन है, सांझ में उसकी तल्लीनता है, क्योंकि उसमें उसे अनेक प्रतीक मिलते हैं :

> **प्राण, संध्या झुक गई गिरि, ग्राम, तरु पर**
> **उठ रहा है क्षितिज के ऊपर सिंदूरी चाँद**
> **मेरा प्यार पहली बार लो तुम !**
>
> ×
>
> **औ' धरा की पीन पलकों पर विनिद्रित**
> **एक सपने-सा मिलन का क्षण हमारा**
> **स्नेह के कंधे प्रतीक्षा कर रहे हैं;**
> **झुक न जाओ और देखो उस तरफ भी—**
>
> —बच्चन

संध्या का यह वर्णन कितना सजीव हैं ! 'झुक गई' में बच्चन ने कलम तोड़ दी है। झुकी और एक व्यापक निस्तब्धता छा गई। फिर कितनी सरल मनुहार है। प्राण ! मानो यह आता हुआ अंधकार कवि के रोम-रोम में स्निग्ध-सा उतर गया। दूर-दूर तक के गिरि-ग्राम-तरु सब पर एक अतीन्द्रिय छाया-सी उतर आई। पर्वतों की गहरी रेखाएं दूर के आकाश-नील में धूमिल-सी होकर विलीन होने लगीं, ग्राम पर उठते हुए धुएं और धूलि में उसकी तल्लीनता मुखर हो गई और सघन वृक्षों पर छाता हुआ कुहन ऐसा लगने लगा, मानो हरियावल के निर्झर-से बरसने लगे। बच्चन की अबोध सरलता में कितनी हृदयग्राही शक्ति है, इसे समझने के लिए हृदय चाहिए। जिसने सांझ को गहरी आंखों से नहीं देखा वह क्या समझेगा कि बच्चन कितने कम शब्दों में कितनी विस्तृति को समेट लेने की शक्ति रखता है ! यह वह बेला है जब सब ओर नीरवता छाती चली जा रही है और उस समय कवि कहता है कि देखो ! क्षितिज के ऊपर सिंदूरी चांद उठ रहा है, सिंदूरी चांद तो पूनम का चंदा ही हो सकता है, गोल, लाल, हल्का-सा, उसमें झरता प्रकाश और वह भी मंदिम फुहार-सा ! उस समय

हृदय की वासना बोलती है कि आज यह जो बेला आई है, इसमें तुम मेरा प्यार पहली बार स्वीकार करो ! कितना निस्पृह उद्दीपन है । पृथ्वी की पलकें भारी हो गई हैं। हमारे मिलन का क्षण एक सपने-सा उन पलकों पर उनींदा-सा छा गया है । मानो मिलन के क्षण का स्वप्न सारी वसुधा पर विकीर्ण हो गया है ।

बच्चन अपने प्रकृति-चित्रण में उस समय बहुत ही सफल हुआ है, जब उसके हृदय के उद्वेग स्तम्भित होते-होते-से चपल और मुखर हो उठते हैं । यही कारण है कि आधुनिक कवियों में नरेन्द्र की भांति उसीने आकर्षित करने की शक्ति पाई है ।

चांद हिन्दी कविता में पहले नहीं-सा आता था । आता भी था तो इतना उसका महत्त्व नहीं था । छायावादी कवियों ने उसकी शोभा को पहली बार उजागर किया था। नयी कविता ने तो उसके साथ अनेक चित्र गुंफित कर दिए :

हौले-हौले की पदचाप
दबी पवन के साथ सुनाई पड़ती
तन्द्रिल अलकों का अटकाव
सुलझना फिर-फिर साफ सुनाई पड़ता ।
चुप सोई इस नयी चमेली के नीचे
नूपुर किसके मन्द लजीले बज उठते हैं,
इतनी रात गए ?
गहरी खुशबू केसर की
बढ़ी हुई मेंहदी के नीचे फैल रही है,
पीला पड़कर सूरज नीचे उतरा
या सहमा-सा चाँद उतरकर
उलझ गया है
फलों के झुरमुट में

—शकुन्त गिरिजाकुमार

यहां यह निश्चय नहीं होता कि यह सूरज है या चांद ? मुझे तो यह चांद ही लगता है । क्योंकि अगर चमेली चुप सोई है तो क्या सांझ होने के पहले ही सो जाएगी ? अभी तो सूरज उतरा ही है, न कि क्षितिज के पार खो गया है । और उगता सूरज तो उतरता नहीं, चढ़ता है । हो सकता है, शकुन्त गिरिजाकुमार ने भी मैथिलीशरण गुप्त की 'सखि, नील नभस्सर से उतरा वह हंस अहा, तिरता-तिरता !' वाली भूल की हो ! परन्तु ऐसा नहीं लगता क्योंकि तन्द्रिल अलकों के अटकाव का सुलझना भी तो साफ सुनाई पड़ रहा है ? ऐसी कविताएं रात की सुकुमारता या सांझ की मलिनता का आभास नहीं देतीं । वाह्य चित्रण पर अधिक ज़ोर देने पर भी यहां मानसिक उलझन और अव्यवस्था ही अधिक प्रकट होती है । यह भी नये युग का एक स्वर है । इसे प्रयोगवाद कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें प्रयोग के लिए प्रयोग किया गया है।

साफ कहा है कि रात इतनी बीत गई है, फिर सूरज कहां से उतर आया ? किन्तु फिर भी इस कविता में एक बात है, और वह है इसकी निस्तब्ध गंध, जो घ्राण को तो तृप्त करती ही है।

कुछ पुराने ढंग की वर्णनात्मक शैली में संध्या का वर्णन करते हुए एक कवि अनेक उपमाएं प्रस्तुत करता है किन्तु उसका बाहुल्य द्वारा अर्पित वैचित्र्य खटकता नहीं :

चली चूनर व्योम में संध्या उड़ाती
मुग्ध मन से प्रणय के वह गीत गाती
और द्वाराचार की तैयारियाँ कर
निशा आरति की जलाये दीप बाती।
यज्ञ में सहयोग देने को निलय भी
आज प्रस्तुत हाथ जोड़े सर झुकाये
रजतकिरणें छिड़क जग में मुग्ध मन से
शुभ्र अगणित रत्न कण नभ ने बिछाये।
नव वसन्ती मलय भी कुछ मन्द गति से,
चल पड़े उस ओर अम्बर के जहाँ पर
नववधू ऊषा खड़ी थी विदा के हित,
दिव्य रथ नव सप्त अश्वों का सजाकर।
झूम शतदल भी उठा बारात लखकर,
किया स्वागत प्रेम में उन्मत्त होकर,
मग्न सरिता भी पुलक कर कलकलाई,
प्रेम का आवेग छूटा फिर लहर कर।
प्रकृति प्राङ्गण में प्रणय के गीत गूँजे
उपवनों में बुलबुलें भी चहचहाईं
सभी तरुगण बदल वल्कल-चीर अपने,
टोलियाँ खग वृन्द की उड़ आज धाईं।
आज स्वागत मुग्ध मन से सभी करते,
उपवनों की भेंट अति उपहार सुन्दर।
पुष्पगण ने छिड़क सौरभ जगत भर में,
गूँथ डाले रश्मियों के तार सुन्दर।
किसलयों ने भी सँवारा साज अपना,
प्रकृति लखती मुग्ध मन से राज अपना,
गर्विता मुग्धा अधीरा किन्तु क्यों है,
जब बढ़ाये प्रिय मिलन को हाथ अपना।

कान्तारों में लतायें मग्न मन में मत्त झूमीं
सभी से अभिसार करती भ्रमर टोली खूब घूमीं
वृद्ध वट की रगों में भी सुप्त यौवन आज जागा
जब लता को परछु कर से पूर्व गत अनुराग जागा।

आज पुलकित सृष्टि का प्रत्येक कण है
प्रकृति प्रिय के मिलन को आबद्ध प्रण है
साध मन में दबी कब से अर्चना की
प्रार्थना प्यासी खड़ी अभ्यर्थना की।

पर मिलन में विरह ने भी जन्म पाया,
सुख ने कटु वेदना का अंश पाया।
वासना से निरत कैसी साधना वह ?
स्वार्थ से जो हीन कैसी भावना वह ?

—सत्यव्रत मिश्र

सत्यव्रत मिश्र के वर्णन में एक गुण-विशेष है, वह है प्रसाद। और अंत का प्रश्न उठाकर उसने मन को नया आश्वासन दे दिया है।

किंतु संध्या अधिकतर घिर आते अंधकार के वातावरण के कारण एक उदासी पैदा करती है। और कवि को लंबी होती हुई छायाओं में व्यथा का प्रसार दिखाई देने लगता है। अपना मन सूर्य-सा जाना गया था, नितांत भास्कर, दूसरों को अपने आकर्षण से बांधनेवाला, आलोकित करनेवाला, ग्रह-उपग्रहों के अद्यावधि महान भ्रमण का नियामक! और पारिजात वन में घूमते मांधाता की भांति वह स्वर्ग के कल्पवृक्षों के पास था, जबकि अकस्मात् ही वह पतित हो गया? पतन हुआ स्नेह के अभाव में। अभाव का जन्म उसकी अनुभूति में होता है, वह प्रेम के क्षेत्र में शायद होता नहीं :

साँझ घिरती आ रही लेकर उदासी,
तरु-लता की बढ़ रही छाया व्यथा-सी,
सूर्य-सा मन डूबता तम-सिंधु में क्यों ?
क्यों न तुम मुस्कान बन उमंगो उषा-सी,

×

तुम मुझे दो साध जीवन-भर, सुनयने !
मैं तुम्हें संपूर्णता का सार दूंगा !

×

तुम मुझे दो कर्मरत अन्तर, सुनयने !
मैं तुम्हें पावन मिलन त्यौहार दूंगा !

×

क्या लगे मन इन पुराने खँडहरों में
पाँव उठते ही नहीं हैं इन पथों में !

×

तुम मिलो जो साथ, विधि से बात कर लूँ
नव सुहागिन यह कुँवारी रात कर लूँ।
तुम मुझे दो कल्पना का वर, सुनयने !
मैं तुम्हें अनुभूति का संसार दूँगा,
तुम मुझे दो प्रेरणा के स्वर सुनयने !
मैं तुम्हें नवगीति का उपहार दूँगा।

—शंभुनाथ शेष

सुनयना के लिए अनेक आवाहन हैं, किंतु सब इसीलिए न कि संध्या हो गई और मन डूबने लगा ? सुनयना प्रेरणा का स्वर दे, तो कवि नवगीति का उपहार दे ! दे न दे, सुनयना ही जाने। हम तो कवि की अभिव्यक्ति में सचाई पा रहे हैं, संध्या की उदासी का करुण स्वर स्पष्ट होता जा रहा है।

संध्या का तो प्रेम से बड़ा गहरा संबंध है। कहते हैं, संध्या में हर रोग बढ़ता है, अतः सावधान रहना चाहिए। फिर प्रेम का भी बढ़े तो आश्चर्य ही क्या है ? नरेन्द्र की संध्या अकेली नहीं आती। वह तो गृहिणियों के लिए धनधान्य लेकर आती है। गोधूलि दिखाई देती है। उस समय शायद कहीं क्षितिज पर मिटता हुआ धूलि का अकेला बादल दीख जाए तो कौन जाने प्रिया को प्रवासी का स्मरण न हो जाएगा। यह प्रवासी तो अपना है, घरेलू है, स्वजन है। उसके लिए तो चिंतित होना सहज और स्वाभाविक ही है :

गृहिणियों के हेतु ले
धनधान्य आती
हो नगर की ओर जब
गोधूलि बेला
देख पाओ यदि कदाचित्
क्षितिज तट पर
कहीं मिटता धूलि का
बादल अकेला
सुधि न लाना इस प्रवासी चिर पथिक की
व्यर्थ भर लाना न लोचन !
फिर धधक बुझ जाय
जब दिन की चिता भी

अस्थिफूलों से खिलें जब
शून्य नभ में कुंद तारक
देख पाओगी कदाचित्
तब किसी आतुर हृदय-सा
अश्रु-सा कम्पित नयन में
व्योम में उद्विग्न लुब्धक[1]
याद जब आए तुम्हें मेरी सुनयने
व्यर्थ भर लाना न लोचन !

—नरेन्द्र

दिन की चिता धधककर बुझती है। अस्थिफूलों की भांति शून्य नभ में कुंद के सारे तारक दिखाई देने लगते हैं। उन्हींमें आतुर हृदय की भांति कांपती आंखों में आंसू-सा चमकता डबडबाया कोई सबसे चमकता हुआ तारा दीख जाए तो शायद फिर प्रवासी की याद न जग जाए ? 'व्यर्थ भर लाना न लोचन' कहकर कवि ने कितनी परवशता खोल दी है। वैसे तो नरेन्द्र में कहीं-कहीं कालिदास के पक्ष की सी तड़प है, क्योंकि वह भी बड़े घरेलू वातावरण की सृष्टि किया करता है जैसे अब मेरी प्रिया वीणा बजाते-बजाते मूर्छना भूल गई होगी, अब देहली पर फूल धर-धर गिन रही होगी, अब आधी रात में मेरी याद में धरती पर पड़ी रोती होगी, अब अपने आंसू पोंछती होगी। कालिदास के वे चित्र आज भी सजीव हैं अपनी व्यावहारिकता के कारण। नरेन्द्र के चित्र भी बहुत सजीव हैं, अपनी वास्तविकता के कारण।

शलभ ने रात, क्वारी रात का सुन्दर चित्रण किया है। उसके वर्णन में प्रकृति की शोभा को प्रमुखता मिली है।

रात नवेली, श्वेत मलमली
मारुत चलती, मन को छलती
जाग झिल्लियाँ गीत सुनातीं
अपने मन की बात बतातीं
मानस-सर में किरणों के सँग
लहरें खेलीं रे !
रूपा हेली रे !
कौन दूर पर, अधरों में भर, रंध्रों में स्वर
सुंदर-सुंदर, फूंक रहा प्राणों की वंशी !
और उसीके रस भीने स्वर बहा वायु की लहरें लातीं !
(किसको काली रात सुहाती !)

१. एक तारा जो सबसे ज़्यादा डबडबाता दिखाई देता है।

हिलीं टहनियाँ, फूल बिखरकर गिरे भूमि पर
दूर क्षितिज पर महक खिल रही शुभ्र चमेली रे,
रूपा हेली रे !
अभी न नीरव, खगकुल का रव !
'टिव्-टिव्' 'टिक्-टिक्'—मुखरित नभ-दिक्
धूमिल तारक-दल दृग तकते
टिमटिम करते, चुपके कहते
भाव-भरी-सी विभावरी री,
खड़ी खेत की दूर—मेड़ पर ! कौन पहेली ?
सुभग, सघन, वह घनी छाँह से निकल अकेली रे
रूपा हेली रे !
मुग्धमयूरी और चकोरी, ताके रही हिरणों की टोली !
कान खड़े हैं, नयन अड़े हैं, नभ निर्घन है, निखरापन है,
नई उमंगें भरे हृदय में, गीत भरे जीवन-अभिनय में
निकल-निकल कर अपने घर से हिलमिल कर बैठीं मस्तानी,
तानसेन की कोकिल-तानी, ग्राम-वासिनी—
ढोलक बजती—गीत गा रहीं सभी सहेली रे !
रूपा हेली रे !

—शलभ

उसने ग्राम-चित्र को उसीके अनुरूप लिया है।

नये कवि उपमाएं बड़ी विचित्र देते हैं। सितारे उनमें से एक को खांड के बिखरे हुए बताशों-से दिखाई देते हैं, जिन्हें प्रातःकाल होते ही किरण-रूपी विहग चुन-चुनकर खा जाएंगे। या तारे कपास के खेत में खिले हुए फूल हैं, जिनको कि सबेरे किरणें बीन-बीनकर डलिया भरकर ले जाएंगी। इस प्रकार के चित्र मन में एक हल्का-फुलकापन पैदा करते हैं :

नभ में छिटके हुए सितारे
जैसे दिये बिखेर खाँड के श्वेत बताशे
खा जायेंगे जिन्हें प्रात होते ही
किरन-विहग चुन-चुनकर।
या कपास का पका खेत
खिल गये फूल
जिनको कि रश्मियाँ सुबह बीन ले जाएँगी
डलिया भर कर,……

—कन्हैयालाल 'चञ्चरीक'

तारिका के प्रति कवि का हृदय मानवीय सहज संवेदना भी प्रकट करता है ! वह उसके भी सूनेपन की ओर आकर्षित होता है। तारिका का जीवन भी क्या इस लोक की अकेली नारी की भांति व्यतीत होता होगा ? ऐसे नीले नभ में वह क्यों चली गई है ? नयी वयस में ऐसा तप क्यों स्वीकार कर लिया ?

नील नभ की ओ मनोरम तारिका, लघु बाल !
क्यों तुझे भाया सुविस्तृत व्योम का अधिवास ?
क्यों वहाँ रहकर कभी होगा
तुझे प्रिय, ज्ञान ?
रूप की तेरे मदिर है
मोहिनी अविराम !
तू बनी है एक अवहेलित कुमारी दीन
अपदस्थ-सी जीवन बिताती, छोड़ती उच्छ्वास
गात दुर्बल हो गया सौंदर्य शोभाहीन
जर्जरित बिश्रान्त-सा है पुष्प मुख का हास !
सुंदरी ! नव वय न देखी,
क्या किया यह भूल ?
क्यों तुझे भाया बता तो
नील नभ का कूल ?

—केदारनाथ अग्रवाल

प्रकारांतर से प्राचीनकाल का कवि तारिका की जगह किसी देवी का वर्णन कर देता !

संध्या रुपहली बनी तो वह कसमसाते पाश में आकाश को बांध उठी। तिमिर रूपी वृक्ष की काली शाखों पर वह पसर गई और हरएक नक्षत्र से खेलने लगी। वह संध्या नहीं है, वह अनजानी फैल गई चांदनी है। उसकी रश्मियां रात-रूपी वृक्ष के प्रत्येक पात से उलझ गई हैं :

यह रुपहली छाँहवाली बेल,
कसमसाते पाश में बाँधे हुए आकाश।
तिमिर तरु की स्याह शाखों पर पसर कर
हर नखत की कुसुम-कोमल
झिलमिलाहट से रही है खेल।
लहराता गगन से भूमि तक
जिनके रजत आलोक का विस्तार,
रश्मियों के वे सुकोमल तार
उलझे रात के हर पात से सुकुमार।

इस धवल आकाश-लतिका में
झूलता सोलह पँखुरियों का
अमृतमय फूल,
गंध से जिसकी दिशाएँ अंध
खोजती फिरतीं अजाने मूल से सम्बन्ध
वल्लरी निर्मूल—
फिर भी विकसता है फूल
विधि ने की नहीं है भूल।
हर जगह छाई हुई है
यह रुपहली छाँहवाली बेल।

—जगदीश गुप्त

चंदा अमृत का सोलह पंखुरियों का फूल है। कितनी सुन्दर कल्पना है ! झूलता हुआ फूल, आकाश की धवल उजली लता में झूलता धीरे-धीरे सिहरता-सा फूल ! वह गंधित-सा है, उसकी गंध चांदनी बनकर फैल गई है, सम्मोहन में नयन निमीलित किए हैं। किन्तु आकाश-वल्लरी का मूल कहां है ? वह अधोवृक्ष मानी जाने-वाली सत्ता या अस्तित्वाभास थी न ? फिर भी उसमें यह फूल कहां से निकल आया ? हर जगह वही रुपहली छांहवाली बेल फैली हुई है।

रात का यह वर्णन कितना सुरभित है ? इसे हम उर्दू में नाजुक-खयाली कह सकते हैं और इसमें हमें दर्शन की एक पुरानी समस्या का भी इंगित मिलता है, जो हमारे उपनिषदों जितनी प्राचीन है।

नया कवि आज की वेशभूषा का वर्णन करने में बहुधा ज्यादा दिलचस्पी लेने में कोई विशेषता नहीं पाता। उसे अभी तक प्राचीनकाल के वस्त्र ही अधिक मोहक लगते हैं, किन्तु अब यह आवश्यक नहीं रहा :

ढला आज का दिन कि बहती रही कुछ
बड़ी अनमनी-सी हवा दर्द से काँपती, चीखती-सी
सुबह से जमे थे गगन पर कि जो घन
उड़े जा रहे हैं कहाँ ? किस गुफा में ?
हुआ स्वच्छ आकाश फिर भी हवा में
तिरे जा रहे बर्फ के तीर जैसे
कि जो कोट की खूब ओटी हुई-सी तहों
कालरों को नहीं मानते हैं।
चली आ रही है कि बेताब होकर
ठिठुर कर हुए हैं कि नीले अधर जो
उन्हें कुछ दबाकर अँधेरा लपेटे हुए साँझ सूनी।

किसीने न जाना कहाँ सो गये हैं
अभी से कि वे श्वान जो सूँघते हैं
उठा नाक सौंधी सुगंधें किचिन की
कि जो रोज आतीं लहरती पवन में।
उगा चाँद है पर मुझे लग रहा है
कि जैसे किसी एक माँ का अकेला
कमल-सा सलौना कहीं एक बालक
सहम सो गया है अजानी जगह में।

—नंद चतुर्वेदी

संध्या में नया कवि कुत्तों के न भूंकने पर आश्चर्य करता है। किचिन की गंध भी उन्हें आज बेताब नहीं कर रही है। रातें भी और ऐसी ठंडी ? चांद किसी मां का बिछुड़ा हुआ-सा बालक अजानी जगह में सहमकर सो गया है। नई कल्पना है। इस प्रकार की उपमाएं अभी जन-मानस में उतरी नहीं हैं और रूस के भविष्यवादी कवियों की सी है किंतु उनमें आकर्षण अवश्य है। मायकोवस्की की एक कविता में सड़क के लैम्प की रोशनी के कांपने का वर्णन है। जिसमें प्रकाश आगे बढ़कर पीछे ऐसे लौटता है जैसे कोई अपने गोरे पांव पर से मोज़ा खींचकर उतार देता हो। इस कल्पना को समझने के लिए मस्तिष्क पर ज़ोर देना पड़ता है। वैसे तो विद्यापति आदि जब दाड़िम पर शुक बिठाते हैं और लोग समझ लेते हैं, तब यही कहा जा सकता है कि लोगों को सुन-सुनकर आदत हो गई है। प्रत्येक नया युग अपने साथ कुछ नये प्रतीक गढ़ता है और क्यों न गढ़े ! वह पिष्टपेषण क्यों करे ? हो सकता है कि प्रारंभ में वे चित्र सहज न हों, किंतु उनका सहज न होना यदि भाषा की दुरूहता के कारण नहीं है, तो हमें कवि को एकदम ठुकरा नहीं देना चाहिए। अन्यत्र कवि कहता है :

घर में एकान्त है छिपा बैठा
है हवा चीख रही दूर, कहीं दूर शून्य बेला है—
कौन-सी पुतलियाँ चुपचाप अपरिचित-परिचित
तैरतीं पंख पसारे बेरोक मन के इस ताल में,
ये निरुद्देश्य ही आती हैं, चली जाती हैं
किसी उजाड़ की प्रतिध्वनि-सी।
और कुछ बात नहीं, कोई भी बात नहीं,
पर मुझे नींद नहीं आती है।

—नेमिचंद जैन

रात के बारे में कवि ने अभी तक एक भी शब्द नहीं कहा। केवल उसकी शिकायत है कि नींद नहीं आती है। क्यों नहीं आती है ? क्योंकि कई यादें घुमड़ रही हैं। मन बड़ा तिक्त है। उसे अपनी ही निरुद्देश्य सत्ता खाए जा रही है :

मुझे भी नींद नहीं आती है—
रात लम्बी है यह बेछोर, रात दुनिया की;
मैं ही वह भौंकता पागल कुत्ता
वह पड़ौसिन जवान, विधवा माँ,
मैं ही वह बूढ़ा-सा किसान थका—
मैं हूँ बेचैन मुझे नीद नहीं आती है
आज है तेज़ मेरे कांपते दिल की धड़कन
मेरे मन में नया तूफान सनसनाता है—
एक सागर नया लहराता है—
एक आवाज़ नयी आती है—
दुनिया की रात भी कट जायेगी
मैं हूँ बेचैन एक आशा से
मैं हूँ उन्मत्त, मुझे नींद नहीं आती है....

—नेमिचंद जैन

आशा की बेचैनी है। कवि वास्तव में यह कहना चाहता है कि मैं क्रांतिकारी हूं। दुनिया की बेचैनी चूंकि मेरी बेचैनी है, इसलिए कि मैं उसे महसूस करता हूं, और यों भी एक तूफान आनेवाला है जिसकी सरसराहट मैं सुनने लगा हूं, मैं बेचैन हूं—परन्तु वातावरण क्या है? उदास, बोझल, मृत्यु का सा भारी। और कवि कांपते पत्ते-सा निरीह! इस चित्रण में जो कवि चाहता है, उससे उलटा असर पड़ता है, क्योंकि कवि में भावुकता का अभाव है, बुद्धिवादी दृष्टिकोण है, उससे लोगों ने कहा है कि ऐसी बातें लिखना उचित है, बस वह लिख रहा है। परन्तु कवि कुछ भी चाहे, कविता तो उसके हाथ से निकल चुकी। और वह एक आतंक का सृजन करने में सफल है, अतः सफल है। इसके विपरीत :

तुमने मुझे बुलाया है मैं आऊँगा—
बंद न करना द्वार देर हो जाए तो
मेरी मंजिल पर है रवि की
धूप, बदलियों की छाया
मैं इन दोनों की सीमाओं
के घर में भी सो आया
लेकिन मुझको तो छूना है
सीमा उस शृंगार की
जिसके लिये टूटती है हर
सूरत इस संसार की

×

मैं न रहूँ तब मेरे गीतों को सुनना—
जब कोई कोकिल जंगल में गाये तो

×

मरुथल में चाँदनी तैरती
लेकिन फूल नहीं खिलते
मन ने जिनको चाहा अक्सर
मन को वही नहीं मिलते
मेरा और आसरा मिलना तो तय है
शंकित मत होना यदि जग बहकाये तो।

—रमानाथ अवस्थी

यहां भी कवि नये संसार की ओर अग्रसर है जब वह उस शृंगार की सीमा छूना चाहता है जिसके लिए इस संसार की हर मूरत टूटती है। उसकी अभिव्यक्ति में हृदय पहले बोलता है। वह अपने जीवित रहते में अपने गीत से अपनी सत्ता का मूल्य कहीं अधिक लगाता है क्योंकि वह जानता है कि जंगल की कोयल संगीत की माधुरी तो स्वयं भर सकती है। यद्यपि सारा सम्बोधन 'प्रिया' से है, किंतु वास्तव में प्रिया प्रिया नहीं है, नये युग की चेतना है। कवि स्वीकृत करता है कि जिस वेग से चेतना आवाहन दे रही है, उस वेग से कला का पहरुआ बढ़ नहीं पा रहा है, क्योंकि उसके मार्ग में अनेक लोभ हैं, अनेक बाधाएं हैं।

वह जानता है कि मरुस्थल में चांदनी अर्थात् वञ्चना तो फैलती है, परन्तु फूल अर्थात् नया जीवन नहीं मिलने का। वह मानता है कि मन जो चाहता है वही नहीं पा लेता। किन्तु उसका यह विश्वास है कि आश्रय तो उसे मिल जाएगा बल्कि वह यहां अपनी चेतना से कहता है कि कहीं बहक न जाना, पथ बदल न देना!

नया कवि अतीत के प्रति बड़ा सशंक हो गया है:

दूर निशा के कुञ्जों में छिपकर
रजनीगंधा न पुकारो मुझको।
मादकता यों न भरो, गंधअंध यों न करो
बरबस तुम तन-मन की चेतनता यों न हरो
यों न सुरभि की ज्वाला को सुलगा कर
लपटों के बीच उतारो मुझको।
स्वप्न-विहग मैं पल भर, कल्पना तरी लेकर
किरणों से खेल रहा नभ-सागर बीच उतर
दूर किसी तम-गह्वर में छिपकर
सुधियों के तीर न मारो मुझको।
मौन सुरभि के क्रन्दन, फैलातीं तुम वन-वन

मेरे क्रन्दन केवल सुनता है नील गगन
मैं भी गलकर जलधारा बनता
प्रस्तर प्रतिमा न विचारो मुझको।

—शम्भूनाथ सिंह

वह किसी प्रकार भी बंधकर नहीं रहना चाहता। उसे वह सब प्रिय है जो सुन्दर है, किन्तु वह नहीं चाहता, कि सबके बीच में रहकर भी कुछ उसे प्राप्त नहीं हो। वह गलकर जलधारा बनने को तत्पर है, प्रस्तर-प्रतिमा बन जाने को नहीं।

शंभूनाथसिंह की भीति बड़ी कोमल है। निशा के कुंजों में छिपकर रजनीगंधा का पुकारना अपनी एक अलग छवि-सृष्टि करता है।

ऐसी छवि-सृष्टि को हम तब अधिक देख पाते हैं जब कवि जीवन और जगत् के सूक्ष्म रहस्यों को एकसाथ रखकर परखता है। दूर उसे एक अज्ञात नक्षत्र दिखाई देता है। वह नक्षत्र-ज्योति की एक लहर-भर है। वह नीम के पत्तों के पीछे दिखाई दे रहा है, जिसमें एक थकान है, एक हहर है। अर्थात् एक स्फुरण तो है किंतु उसमें कोई प्रेरणा नहीं है। ऐसी सिहर है क्या वह? तो हे नक्षत्र! तू मुझे फिर से छू, शायद मेरे भीतर भी वह जागरित हो सके। यह जो धीमा-धीमा समीर है, वह क्या तेरे स्पंदन की प्रभा से पूर्ण है? जीवन का कण किस अज्ञात आकाश में छिपा हुआ है जहां से तू चमक रहा है, अपना प्रकाश प्रस्रवित कर रहा है:

दूर धूसर नखत है वह
मधुर अविदित लहर है यह
नीम पत्तों में निराश्रित
थकित जीवन हहर है यह!
छू नखत, फिर छू मुझे रे
भर रही क्या सिहर है यह!
दूर किस अज्ञात नभ में
है छिपा चिर दीप्त कन वह
आज जिसकी मधुर छाया
में किलकता नखत शिशु वह!
नखत शिशु वह, फूल सोते—
हँस रहे किस अमर द्युति में?
विश्व का यह सुप्त कलरव
निहित है किस गुप्त गति में?
स्तब्ध निशि सन् सन् समीरण
उर सभय, सुनसान सुखमय!

स्पर्श कैसा आज पुलकित
कर रहा कन-कन असुध-लय !
आज विस्मृति व्योम में रे—
छिटकती क्या द्युति लहर यह ?

—राजेन

और कवि को रोमांच-सा हो आता है। वह अपने उर को आश्चर्य और विस्मय के भय से पूर्ण पाता है। किन्तु यह विस्मय सुखदायी है। उस नक्षत्र से आती हुई किरण जब कवि का स्पर्श करती है तब कवि के रोम-रोम में आलोक की चेतना फैलने लगती है, वह वही है जोकि उस सुदूर के दीप्त कन में है, उसमें स्वयं में है, समस्त सृष्टि में व्याप्त है।

रात्रि ने पुरुष को जबकि दर्शन की इस अनुभूति का दान दिया है, वह नारी को दूसरी ओर दूसरी ही अनुभूति से विभूषित करती है।

नारी की न्योछावर होने की तन्मयता जाग उठती है। उसके मन में अगाध स्नेह है। उसे अपने यौवन पर बड़ा विश्वास है। आज वह अपना एकाकीपन नहीं सहना चाहती। वह उस कारा को तोड़ देना चाहती है जिसने उसे अवरुद्ध कर दिया है। अब वह बंधनों को खोल देना चाहती है। आज नई सांसें पीने के लिए वह उच्चतर शिखर पर पहुंचकर नया जीवन अपने वक्ष में भर लेना चाहती है :

आज रात शृंगार करूँगी !
जाऊँगी मैं मलय शिखर पर
श्वासों से समीर पी लेने
बालों को सुरभित कर लेने
चितवन में गुरुता भर लेने
खिले फल-सा यौवन लेकर
शूलों के वन पार करूँगी !
आज जल उठा एकाकीपन
तोड़ो, मेरी कारा तोड़ो
घाव बन गया यह दुराव अब
खोलो, मेरे बंधन खोलो
एक बार जी भर कर निष्ठुर !
मैं मानव को प्यार करूँगी !

—विद्यावती कोकिल

उसने अपने उपास्य को चुनौती दी है कि वह तो जी भरकर मानव को प्यार करेगी। उसे रोकेगा ही कौन ! क्योंकि वह उपास्य तो सबसे परे हो गया है।

उठाई चरण-धूलि कितने करों ने
चरण-चिह्न फिर भी न देखे तुम्हारे।
किरण-जाल में सृष्टि की संपदा भर
कहीं ले न भागे चतुर अंशुमाली
न जाने कहाँ कौन-सी कोठरी में
धवल चारु मणियाँ गगन ने छिपा लीं
गिराये तिमिर-पट रही यामिनी पर
मधुर चित्र फिर भी न मैंने उतारे।

—शिवबहादुर सिंह

पुरुष उस संपदा को नहीं बटोर पा रहा है, किन्तु नारी के लिए वह उतना कठिन नहीं। वह शृंगार में संतुष्ट है। पुरुष बाहर ढूंढता है, नारी अपने भीतर। एक परावलंबन ढूंढ़ता है, दूसरा स्वावलंबन।

अब रात ढलने लगी है। अभी तक नींद नहीं आई है। थकान की धूलि अब उठी है जिसने यादों के काफिले के बहुत आगे जाने पर पथ को ढंक दिया है। और कवि सोचता है कि मृत्यु के साथ भी मुझे आनंद की सांत्वना क्यों आभासित होती है? संभवतः यह मिलन की तृप्ति है जो सदैव पूर्ण-सी प्रतीत हुआ करती है:

निशा के आखिरी पग में
नयन की नींद अकुलाती
पलक पर जिंदगी की
इन चिर मौन इठलाती।
मरण के पंख पर बजता
मिलन के गीत का छागल।
लहर के पार का सुंदर
सुहाना गीत रे पागल।
सुनहरी प्रेम डोरी में
बँधा आकाश से अम्बुधि
न जलने की जलधि को सुधि
न नभ को विरह की सुधि-बुधि,
लहर के पार का सुंदर
सुहाना गीत रे पागल!

—विभुदेश्वरप्रसाद उपाध्याय 'निर्भर'

मृत्यु के पार भी कुछ है। वह इस सबसे अधिक सुंदर है जो यहां दीख रहा है। वहां का संगीत अधिक मोहक है। वहां न जलन है, न विरह। वहां पूर्ण शांति है। वहां कोई हलचल नहीं है।

यह निस्तब्धता का आकंप कैसा है ? इसे तो हम प्राचीनकाल से ही सुनते चले आ रहे हैं, किंतु पहले इसके साथ कर्म का जंजाल और बंधा हुआ था, आज वह नहीं दीखता। कर्म का जाल समाज की उलझनों को सुलझाने के लिए था। नया कवि इस समय उसे जाले के पार की सोच रहा है। वह इतना तो नहीं जानता कि उसकी कल्पना सत्य है या नहीं, किंतु उसने एक सत्य दुहराया है जोकि आसक्ति है, लिप्त है, और वह है कि प्रेम की डोरी से आकाश और समुद्र तक बंधे हुए हैं।

इसी निस्तब्ध वातावरण में एक और स्वर उठता है। वह नारी की आसक्ति है। वह लोरी है, वह मां की ममता को प्रदर्शित करती है। गूंजता हुआ धीमा-सा स्वर :

सो जा मेरे अतुल दुलारे !
सो जा मेरे दृग के तारे !
सरोवरों में कमल मुँद गये
तू भी पलक मूँद ले अपने।
आयेंगे निज चित्र बनाते
तेरे नयनों में सुख-सपने।
उनसे बातें जी भर करना
अद्भुत खेल खेलना प्यारे !
सो जा मेरे दृग के तारे !
पंछी निज नीड़ों में जाकर
अपनी माँ के पास सो गये,
कलरव उनका शांत हो गया
सुख सपनों में सभी खो गये।
तू भी चुप हो सो जा मुन्ने !
सो जा मेरे राजदुलारे !
सो जा मेरे दृग के तारे !
सूर्य देवता अपने घर में
नींद-मग्न हैं नभ-पलने पर
इसीलिए तो तारोंवाली
झिलमिल डाली माँ ने चादर
मैं भी तुझे उढ़ा दूँ लालन
अब तो बेटे, चुप सो जा रे !
सो जा मेरे दृग के तारे !
नन्हे-नन्हे फूलों को तो
निंदिया दौड़ी आन सुलाती

पवन झुलाती इनको पलना
थपकी देती गीत सुनाती
'आ री निंदिया' 'आ री निंदिया'
गाती हूँ मैं तू सो जा रे !
सो जा मेरे दृग के तारे !

—सरोजिनी कुलश्रेष्ठ

अनंत आकाश, व्यापक पृथ्वी, प्रवहमान समीर, अखण्ड गति, और रात का फैला हुआ प्रशांत तिमिर। वहां जीवन की ममता, भविष्य का दृढ़तम विश्वास, जीवन की विवशता नहीं। उसमें एक ओजपूर्ण आसक्ति है। यह पुरुष और नारी के मूल दृष्टिकोणों में कितना भारी भेद प्रकट करता है ! कितनी दूरी है !

और पुरुष क्या सोचता है ? हमारा जीवन मृत्यु के लिए है। हमारा सारा निर्माण अंततोगत्वा ध्वंस के हाथों का खिलौना है। अमरों का मर्त्यलोक है यह। इसकी भी कल्पना हमने ही की है। यहां सत् और असत् का द्वन्द्व चल रहा है। यहां कोमलता के साथ ही क्रूरता विद्यमान है :

नीलाभ व्योम में दमक रहा है
सुप्त निशा का चंद्रभाल
अवनीतल पर है बिछा हुआ
निद्रा का मोहक इन्द्रजाल।
है उधर हँस रही प्रकृति खड़ी
है इधर हँस रहा क्रूर काल
इन कब्रों में हैं छिपे हुए
कितने मुक्ता, कितने प्रवाल।

×

इन कब्रों में है छिपी हुई
कितनों की भूली हुई याद
कितनों की अंतर्पीड़ाएँ
कितनों के निष्फल सुप्त नाद।
हैं आज हुए इनमें विलीन
कितनों के हास्य-कटाक्ष-व्यंग
कितनों के विरहोच्छ्वास और
प्रणयी के उर की नव उमंग।

—आनंदकुमार

मृत्यु का अवसाद कवि को घेर लेता है। जाने इन कब्रों में कितनों की भूली

हुई यादें छिपी हुई हैं। अपने जीवनकाल में इन लोगों ने अपने को कितना महत्त्वपूर्ण नहीं माना होगा! आज वे कहां हैं? उनकी न जाने कितनी पीड़ाएं उनके साथ ही अधूरी चली गईं। उनके गर्जनों की सफलता का प्रश्न ही नहीं उठता। रूप, यौवन, प्रणय और विरह सब इस समय इनमें लीन पड़े हैं। पूछा तो उमर खैयाम ने भी यही था। शेक्सपियर ने भी यही कहा था। हमारे प्राचीनों में व्यास ने तो कई जगह कहा है। क्या मृत्यु के प्रति यह दृष्टिकोण मनुष्य का विकास रोकता है? मेरी समझ में इस तथ्य को समझ लेना जीवित मनुष्य के लिए सबसे अधिक आवश्यक है, क्योंकि उसके अहं की बहुत-सी बर्बर क्षुद्रता इस सत्य को जान लेने से कुण्ठित हुआ करती है। एक समय तो इस विचार ने स्वर्ग और नरक की कल्पनाएं की थीं और इस लोक में इसी माध्यम से सत् को स्थापित करने की चेष्टा की थी।

समय बदल जाता है, विचार भी बदल जाते हैं और फिर नये समाधान हमारे सामने आने लगते हैं।

समय देवता में नरेश मेहता ने संध्या का बड़ा ही आकर्षक चित्रण किया है। नरेश मेहता की कल्पना बहुत पुरानी है, वैदिक युग की सी आदिम, इसीसे बहुत रंगीन और चित्रात्मक, किन्तु उसने उसे नये ढंग से प्रस्तुत किया है अतः वह अच्छी मालूम देती है:

सोने की वह मेघ चील
अपने चमकीले पंखों में ले अंधकार
अब बैठ गई दिन अंडे पर।
नदी-वधू की नथ का मोती चील ले गई।
गगन-बीड़ से सूरज-ग्वाला, हाँक रहा है दिन की गायें।
नभ का नीलापन चुप है दिशि के कंधों पर सिर धर।
इस उतराई-मार्ग-दिवस के सैन्धव
नतशिर होकर उतरे सधे चरण से,
चमक रही पीले बालों वाली अयाल उनके गर्दन की।
साँझ, दिवस की पत्नी, अपने नील महल में बैठी
कात रही है बादल।
दिशि की चारों कन्याएँ हैं माग रहीं तारों की गुड़ियाँ।

—नरेशकुमार मेहता

मेघ-रूपी सोने की चील अपने चमकीले पंखों में अंधकार भरकर दिन-रूपी उजले अंडे पर बैठ गई है। बिलकुल वैसी कल्पना है जैसी प्राचीन काल में वात-जव गरुड़ के विषय में टॉटमयुगीन पुरुष किया करते थे। पहला चित्र समाप्त होता है। फिर दूसरा चित्र आता है, फिर तीसरा और फिर उत्तरोत्तर नया ही। किन्तु सारे चित्र संध्या के वातावरण की ओर ही इंगित करते हैं, इसलिए अलग-अलग दृश्य भी एक

ही विस्तृत पटी के चित्र-से प्रतीत होते हैं और वे अपनी पूर्णता का आभास देने में समर्थ होते हैं। क्योंकि ये सारे कार्य-व्यापार लोक-प्रचलित हैं अतः इस कल्पना-समूह को समझने में कोई कठिनाई भी प्रस्तुत नहीं होती। यह वर्णन प्रकृति का स्वत्व झलकाता है। कवि मानो सब कुछ दूर से देख रहा है।

अन्त में हम यही कह सकते हैं कि नई कविता का संबंध भोर से सांझ तक है। दिन की धूप का असली वर्णन तो वर्ग-संघर्ष के चित्रण में आया है, जिसे हमने अभी यहां नहीं लिया। अभी तो कवि धरती का प्यार संजोने में ही लगा है। वह अपने सौन्दर्य के हंस की गति पहचानने का प्रयत्न कर रहा है। उसे अन्धकार तो दीख रहा है, किन्तु वह उससे हारा नहीं है, रात ने उसे पराजित नहीं किया है :

व्योम पर छाया हुआ तमतोम,
हे हिम हंस ! तू जाता कहाँ है ?
नील नीलम नभ निमंत्रण दे किसी को
तो करे इन्कार कैसे ?
आँख जिनके हो न, उनको चाँद सूरज
की किरण से प्यार कैसे,
ठीक है, दिल पास रखता हूँ, समझता
हूँ सभी कुछ, आज लेकिन,
व्योम पर छाया हुआ तमतोम
हे हिम हंस ! तू जाता कहाँ है ?

×

है ठहर तब तक फलक पर जब तलक है
ज़ोर बाज़ू का सलामत
बिजलियों की हर लहर, तेरे जमीं की
ओर गिरने की अलामत,
दग्ध पर की, दग्ध स्वर की कद्र केवल
एक धरती जानती है,
लाख आकर्षित किसीको भी करे
आकाश अपनाता कहाँ है ?
व्योम पर छाया हुआ तमतोम
हे हिम हंस ! तू जाता कहाँ है ?

—बच्चन

आत्मा का हंस अपराजेय है। उसे अपने पौरुष पर अभिमान है, और वह जानता है कि वेदनाओं और दाह की यदि कहीं अनुभूति है तो वह इस पृथ्वी पर ही

है। आकाश बुलाता है, लाख-लाख छलनाएं फैलाए है, मनुष्य को चकित और विभ्रांत करता है, किन्तु वास्तव में गुरुत्वाकर्षण तो इसी पृथ्वी में है। इसीलिए हंस को इसी धरती पर आना है। इसीपर रहना है। न रहे तो करे भी क्या ? अपनी ही कल्पनाओं के निराधार में वह कब तक भटकाता रहे ? उसे तो दर्द मिला है। और दर्द क्या बिना बैठे चैन पा सकता है ? उसे तो रसा चाहिए, रसा······

फागुन से पावस

सारा मध्यकालीन साहित्य षड्ऋतु-वर्णन से भरा पड़ा है। किन्तु नई कविता में ऋतु-वर्णन प्राचीन परिपाटी को ज्यों का त्यों स्वीकार करके नहीं चलता। भारत की कुछ ऋतुएं विशेष सुहानी होती हैं, जिनमें फागुन और सावन के महीनों की वसंत और वर्षा ऋतुएं विशेषकर कवियों को आकर्षित कर सकी हैं।

प्राचीनकाल से अब तक कवियों ने प्रकृति को अनेक रूपों में देखा है। आलम्बन, उद्दीपन, मानवीयकरण, रूपक-नियोजन, रहस्यात्मक प्रतीकीकरण, रूपवर्णन-मात्र, शिक्षाग्रहण, संवेदना-जागरण, दर्शन-निरूपण आदि के रूप में प्रकृति का वर्णन हुआ है। प्रत्येक युग ने इन विषयों को अपने ढंग से लिया है और इसीलिए प्रत्येक युग के वर्णन में भिन्नता भी प्राप्त होती है। नया कवि जिस युग में प्रकृति की ओर देखने लगा, उस समय प्रकृति पर एक ओर तो मनुष्य विजय प्राप्त करने का संघर्ष कर रहा था, दूसरी ओर सामाजिक कुरूपताओं से व्यथित हृदय को वह अपने सौंदर्य से आकर्षित कर रही थी। यह एक विचित्र द्वन्द्व था, जिसकी अनुभूति पहले के कवियों में नहीं थी। एक प्रकार से एक ओर मनुष्य की यंत्र-शक्ति थी, दूसरी ओर मनुष्य का हृदय प्रकृति से अपना तादात्म्य खोज रहा था। नये कवि ने इन दोनों रूपों को देखा और अधिकांश उसने प्रकृति की सत्ता को सौंदर्य का एक माध्यम-मात्र माना। अंशभेद से प्रायः सभी कवियों में इसके उदाहरण मिल जाते हैं। पूर्णत्व का जो विचार छायावादी काव्य ने दिया था, वह नई कविता में नहीं मिलता। यह बात और है कि सौंदर्य की अनुभूति की कोमलता ने उसे कहीं छोड़ा नहीं है। प्रकृति को नये कवि में मनुष्य के लिए मानने की अधिक प्रवृत्ति है, चाहे वह उपयोगितावाद के रूढ़ स्वरूप के अन्तर्गत न आती हो।

वे ऋतुएं जिनमें नये जीवन का विकास होता है, नये कवि को अधिक प्रिय हैं।

मधु का अनंत आकर्षण उद्दीपन है, स्वयं ही जो वह आत्मा में रम जानेवाली व्याकुलता का प्रतीक है। सौंदर्य अपनी समस्त गहराई के साथ उसमें व्यक्त होता है। कृष्ण की बांसुरी और रास की कल्पना करता हुआ कवि कहता है कि अपनी चेतना में भी आज वह नवीन स्फुरण देख रहा है :

अभी तक कर पाई न सिंगार
रास की मुरली उठी पुकार
गई सहसा किस रस से भीग
वकुल वन में कोकिल की तान,
चाँदनी में उमड़ी सब ओर
कहाँ के मद की मधुर उफान ?
ठगी-सी रुकी नयन के पास
लिये अञ्जन उँगली सुकुमार,
अचानक लगे नाचने मर्म्म
रास की मुरली उठी पुकार
सुहागिनियों में चुन कर एक
मुझे ही भूल गये क्या श्याम ?
बुलाने को न बजाया आज
बाँसुरी में दुखिया का नाम

×

महालय का यह मंगल-काल
आज भी लज्जा का व्यवधान ?
तुम्हें तनु पर यदि नहीं प्रतीति
भेज दो अपने आकुल प्रान।

×

रहा उड़ तज फेनिल अस्तित्व
रूप पल-पल अरूप की ओर
तीव्र होता ज्यों-ज्यों जयनाद
बढ़ा जाता मुरली का रोर
सनातन महानंद में आज
बाँसुरी कंकन एकाकार
बहा जा रहा अचेतन विश्व
रास की मुरली रही पुकार।

—दिनकर

जिस आकर्षण में नाद ही आत्मा को बांधता है, वह एक अनैतिक सत्य नहीं, लौकिक सत्य है, क्योंकि राग किस प्रकार विचारों को जागरित करता है इसपर विचारक विस्तार से प्रकाश डाल चुके हैं। अनेकों में एक कहती है कि उस आनंद का छविमय लीलामय रूप मुझे भूल भी कैसे सकेगा, क्योंकि रूप की बाह्य सत्ता की असमर्थता को वह स्वीकार नहीं करती, उसमें अपनी इति नहीं मानती, इसलिए यहां उसकी

पराजय नहीं होती।

यौवन और वासना को वसंत सुलगाता है। क्योंकि इस समय नवजीवन अपनी आंखें खोलता है। समस्त सृष्टि को जड़ता से जागरण में नया साहस प्राप्त होता है। ऐसा लगता है जैसे एक महान मिलन हो रहा है :

यौवन मुग्ध वासना डोली !
विकसित हुईं कुसुम की कलियाँ
विहँस उठीं मणि-मुक्तावलियाँ
झूम उठी लज्जानत डाली
मधुप लगे करने रँगरलियाँ
विरह विदग्ध काँपते स्वर से
'कुहू, कुहू' पिक बोली !
मिलनातुर सौरभ-समीर ले
मिलनातुर कुसुमित कलिकाएँ
मधु पराग चुम्बन को आई
मधुप जनों की टोली
चले पवन के मन्द झकोरे
चले मान के मधुर निहोरे
नव प्रभात में नव किरणों ने
डाल दिए जग पर छवि डोरे
यौवन लुटा प्रकृति मुस्काई
भरी कामना झोली।

—श्यामबिहारी शुक्ल 'तरल'

विलास की कमनीयता में प्रकृति की रूप-वर्णना कर देने में ही उसकी प्रतिरूप-छाया मनुष्य के हृदय पर पड़ते हुए, उसके भीतरी मनोभावों को व्यक्त करने में समर्थ हो जाती है। उसके लिए आवश्यक नहीं होता कि कवि अपने उत्तमपुरुष को बीच में ले आए। प्रकृति का स्वात्मावलंबी वर्णन भी तब तक अपना कोई मूल्य नहीं रखता जब तक कि वह मनुष्य की अनुभूति में नहीं उतरता, क्योंकि अन्यपुरुष के रूप में अपनी दूरी को बचाए रख सके, ऐसा कोई व्यक्तित्व तो प्रकृति में होता नहीं। दर्शक की तटस्थता में अभिव्यक्ति का ही भेद होता है, वैसे वह भी उसीका हृदय, उसपर पड़नेवाली छाया का प्रकटीकरण हुआ करता है। नये काव्य में कवियों ने इस सत्य को अधिक पहचाना है। और यह नये काव्य के प्रकृति-वर्णन की एक विशेषता है। उसने प्रकृति को अपने से दूर रखकर भी केवल माध्यम नहीं माना, वरन् उसकी सत्ता को स्वीकार करके भी अपने को ही उसका माध्यम माना, और इस प्रकार पुरातन पंथ से तनिक हटकर सापेक्षरूप से नया तादात्म्य करने का प्रयत्न किया है। इसमें

कभी वह केवल प्रवृति पर आश्रित रहता है, कभी भाव पर। उसका भाव विचार के बिना नहीं चलता :

जीवन में वसन्त आया क्या ?
जो पलाश वन फूल गये ?
उड़ी धूल कुसुमों की वन में
कोयल कूक उठी कानन में
तुमने जो अनुवचन दिए थे
क्या उनको तुम भूल गये ?
तुम निबाह लोगे आजीवन
कभी नहीं होगे विचलित मन
आता कोई भी न जहाँ से
तुम ऐसे उपकल गये !
आओगे तुम, क्या न कहा था ?
दिल क्या पत्थर-सा न रहा था ?
राह देखते ही सपने सब
मेरे हो निर्मूल गये !

—आरसीप्रसाद सिंह

अपनी वासनाएं उसको यहां इसी संदर्भ में एकत्र हुई-सी मिलती हैं। अन्यत्र वह सौंदर्य को भी उसी उत्तमपुरुष सन्निध्य में देखता है।

हरे-भरे खेतों के सागर पर स्वर्ण-पीत फलों की सोने-सी, रेशम-सी नैया डोल रही है। तितलियों ने रंगीन चुनरिया ओढ़ी है। कली-कली रस से गर्वीली होकर खिलती है। सरसों के खेतों के सागर पर बौर-गंध से मस्त मदमाती बयरिया, पागल बयरिया डोल रही है। आज चलो फिर से नया जीवन जगाएं। सफल हुए श्रम की ध्वजाएं फहरा रही हैं, आशा और अभिलाषा की अमराई गूँज उठे, अमृत घोल-घोलकर काली कोयलिया, माती कोयलिया कूक उठे।

—सुमित्राकुमारी सिन्हा

फागुन एक तो वैसे ही सुन्दर होता है, फिर कवि का हृदय भी सुन्दर होता है। प्रकृति के वर्णन में तो ऐसी-ऐसी नई उपमाएं खोजी गई हैं कि देखते ही बनता है। जितना ही वह कोमल प्रतीकों का अभिव्यंजन करता है, उतनी ही उसकी भाषा अपने बंधनों को तोड़कर लचकने लगती है। संभवतः इस प्रकार की लोच खड़ी बोली के इसी युग की देन है [छायावाद ने मिठास दी, परन्तु उसकी लोच का भराव इसी युग की देन है]। हम देखते हैं कि काव्यभाषा पहले से कहीं अधिक समर्थ होती जा रही है :

आज इस फागुन की दुपहरिया में
सामने खिस्ती के पुराने बँगले की

छत के रेलिंग पर झूलती
नारियल तरुमाला :
छोटी-बड़ी सहेलियाँ जैसे
नाच रहीं डालकर गलबहियाँ :
और उन नुकीले पत्रों की
उलझती लहराती अलकों में
अनन्त आकाश की दूरियाँ
बँध गईं नीले रेशमीन रिबन के फुंदों-सी ।
पार के 'जुहू सागर' के
अगम जामली क्षितिज की भयावहता
बन गई बनफ्शई फूल
इन नारियल-बालाओं के
उभरीले सीनों के तटों पर ।
यों मानव की बनाई छत की रेलिंग पर
अगोचर अनंत की चिरगोपन मोहकता
भर आई आज मेरी बाँहों में
और खुल पड़ी अनायास ।

—वीरेन्द्रकुमार जैन

'नुकीले पत्तों' न कहकर कवि ने 'नुकीले पत्रों' का प्रयोग किया है, क्योंकि 'पत्तों' में फिसलन है, जबकि नारियल के पत्ते कुछ कड़े होते हैं और उनको कवि 'पत्तों' न कह 'पत्रों' कहता है। एक 'र' का प्रयोग ही वास्तविक चित्रण करता है। नीले रेशमी रिबन के फुंदों की भांति, पत्रों के केशों के बीच में, झलकता नीला आकाश हमें एक नारी के शीश के पास पहुंचा देता है, जो विशाल है, किन्तु कवि की दृष्टि से —क्योंकि कवि उस सबको धरती पर से देख रहा है। मनुष्य के निर्माण की अनुभूति से पूर्ण कवि प्रकृति के अगोचर, अनन्त किन्तु रहस्यमय सौन्दर्य को नहीं भूलता।

वीरेन्द्रकुमार जैन अधिक यशस्वी नहीं है, क्योंकि उसकी शैली अपनी है और आलोचकों के प्रति वह निर्द्वन्द्व है। उसके प्रतीक नये काव्य में अपनी काफी महत्ता रखते हैं और उसे स्वीकार न करना अपने साहित्य की वास्तविकता को न जानने के समान है। वह फागुन की धूप का वर्णन करते हुए न केवल उसका सौन्दर्य दिखाता है, किन्तु वर्तमान में से अंकुरित होते हुए भविष्य को भी प्रस्तुत करता है और उसके रूप-वर्णन में अनायास ऐसी गंध-व्याप्ति होती है कि सचमुच कविता सप्राण हो उठती है। कवि में आशा गहन है, गंभीर है, जोकि वास्तव में स्पृहणीय है। बसंती धूप की केशर-तरंगें देखकर क्या अच्छा नहीं लगता :

आगामी वैशाख में पकनेवाले
हापुस आमों की आशा-भरी पीलिमा-सी
यह फागुन की माधुरी धूप,
और उसमें किसी अनदेखे
लज्जारुण आनन के गुलाबी भँवर :
किस अजान आंचल के आम्रवनों
में मुकुलित मंजरित हापुस
की यह खट-मीठी गंध !
कि बसन्ती धूप की
इन केशर-तरंगों में
कौन यह चिर-पहचानी लीला-संगिनि
हुई आविर्भान :
दाँतों के बीच चट्टी उँगली दाब,
ओठ घुमा गोल-गोल,
बिखराकर मुकुल मुस्कान के
दे रही आमन्त्रण
जीवन के चिर नूतन फाग का :
आनेवाले नये-नये लोकों और आकाशों
के अमर यौवन-उत्सव रंग-राग का !

—वीरेन्द्रकुमार जैन

दांतों के बीच चट्टी उंगली दाबकर, होंठों को गोल-गोल घुमाकर आमन्त्रण का चित्र कितना मोहक प्रतीत होता है, और वह भी तब जबकि वह जीवन के चिर-नूतन फाग का आमन्त्रण हो ! जबकि वह अनागत नये-नये लोकों, लोक नहीं लोकों, और आकाश नहीं, आकाशों के अमर यौवन के उत्सव और रंग-राग का आमन्त्रण हो !

कवि की सृष्टि उसकी दृष्टि में है और वह दृष्टि कितनी व्यापक है, हमें यह देखना आवश्यक है, क्योंकि सौन्दर्य स्वयं व्यापकता है। संकोच में भीति है। हम जिस युग में रहते हैं, वह युग इतना यांत्रिक-सा लगता है कि यह देखकर कि मनुष्य की चेतना इतनी जागरित है, आश्चर्य होता है। हो सकता है लोग आज अपनी कशमकश में इस पर ध्यान नहीं दें, किन्तु कशमकश केवल निम्न स्तर पर लाने के लिए तो नहीं है, वह तो हमारा स्तर और ऊपर उठाने के लिए है। इसका ही संतुलन हमारे सामने नये क्षितिज उभारकर लाता है। एक कवि ग्रामजीवन की झलक देता है :

निकल कोंपलें रहीं रंग उभरे भड़कीले,
फूले बाँस कि बँसवट तक में मस्ती छाई,

भीनी भीनी गमक रही बौरी अमराई,
उड़ता है चौताल ढोल के बोल बढ़ीले।
बाँका युवक खोल के निकला चौड़ी छाती
रसमस मसें भीगती, आँखें कुछ अलसाई
फिर-फिर आ निज ड्योढ़ी पर धनि छा घुमड़ाती
लगे कनखियों उसे देखने लोग-लुगाई—
कोयल के क्या कहने किंचित नहीं लजाती
डाल-डाल पर फिरती गाती वह मदमाती।

—रामबहादुर सिंह 'मुक्त'

कोयल की करामात कौन संभाले ? कब से नहीं बोल रही है वह ? पुराने रंगों की छाया देखनी हो तो वह यहां हमें मिलती है :

मेरी श्यामा ने वंशी फूँकी तो कोइलिया क्यों कूक उठी ? कुहरे की झीनी चदरिया में सोई हुई धरती की सुधि खोई-सी ऊँघ रही थी, उसे अचानक किसने गुदगुदाया कि चारों तरफ माया जैसी छा गई—माया ऐसी जैसी सरसों की फूली क्यारियां। आमों में मंजरिया झूली हैं, भौंरों की भामिनियां बेसुध हैं, पुरवाई मस्ती में ऐसी सनसना उठी कि भूली हुई बात फिर याद आई। कोइलिया कूकी, मेरे कलेजे में हूक-सी उठ आई, कि वह मेरे कलेजे में कूकी है ?

—रामवृक्ष बेनीपुरी

स्नेह का जब विरह में परिवर्तन होता है, जब विरह की तीव्रता ही मन की सुकोमलता में आत्मतृप्ति बन जाती है, तब ऐसा कौन-सा समय है जब कोकिल ने अपना मद-भरा गान छोड़ दिया हो ? दर्शन की खोज और दाह के आकाश में वह बोलती रही है। उसने जीवन की यथार्थ वेदना और कल्पना के सौन्दर्य के बीच मर्म-वेदना को जगानेवाले स्वरों की सृष्टि की है और किसी भी अरूप टीस में अपना तादात्म्य किया है :

दाह के आकाश में पर खोल
कौन तुम बोली पिकी के बोल !

×

बालुओं का दाह, मेरे ईश !
औ' गुमरते दर्द की यह टीस।

×

चिलचिलाती धूप का यह देश
कल्पने ! कोयल तुम्हारा वेश।
लाल चिनगारी यहाँ की धूल
एक गुच्छा तुम जुही के फूल

याद में यह ब्याह का संगीत
भूल क्या सकती न पिछली प्रीत !

×

धूप में उड़ती हुई शबनम अरी अनमोल
कौन तुम बोली पिकी के बोल !

—रामधारीसिंह 'दिनकर'

दिनकर के प्रकृति-चित्रण कहीं-कहीं बहुत सुन्दर हुए हैं किन्तु उनमें कभी-कभी परुषता के कारण थोड़ी ठोकर-सी भी लग जाती है। फिर भी दिनकर ने अपना स्थान बना लिया है। उसकी कविता मुख्यत: विचारप्रधान है और उर्दू शैली का चमत्कार उसमें काफी मिलता है, जिसका अन्यत्र भी प्रभाव पड़ा है :

पतझर की पलकों से पूछो कि मेरे गीत पनीले क्यों हैं ? उन अस्तव्यस्त अलकों से पूछो कि ये इतने अस्तव्यस्त क्यों हैं ? कण-कण की पीली मुद्रा को तुम रामकहानी क्यों समझे हो ? चंदा की नादानी को तुम मेरा पानी क्यों मानते हो ? तुम तो बरसात को समझते हो कि यह खूब झरी है, लेकिन बात तो ऐसी नहीं है, क्योंकि जगत् में ऐसे कितने फूल हैं, जिनके नीचे दो-दो पात नहीं हैं। जैसा तुम समझते हो वैसी कोई बात नहीं है।

—मुकुटविहारी 'सरोज'

उर्दू का सा यह प्रभाव संस्कृतकाव्य और रीतिकाव्य में हिन्दी में भी था, किन्तु उर्दू के प्रभाव ने उसे पैना किया। जयशंकर 'प्रसाद' के आंसू में वह काफी प्रस्तुत था। दिनकर और उसके बाद के नये कवियों में वह काफी आया और उसका कारण था—कवि-सम्मेलन। कवि-सम्मेलन का गौरव हटा देने से न जाने कितने कवियों की शक्ति आधी रह जाएगी, किन्तु हम यही क्यों न कहें कि आधी शक्ति का पुरस्कार 'वाह-वाह' में कवि अपने जीवन-काल में ही अर्जित कर लेता है।

नारी के चित्रणों में फागुन की अनुभूति में कोई ऐसा भेद-विशेष नहीं मिलता। इससे यह प्रकट होता है कि शायद स्त्री और पुरुष की वासना के उद्दीपन अधिक रूप से एक ही हैं :

फागुन की तीर समीर
फूलों कलियों को मींज-मींज
डाली बेलों के बीच चली
आँचल खिसकाती झीने पट साड़ी के
भर चली धूल से धरती का मुख सुंदर
रंग में रँगती
उड़ती जाती है आगे आगे'''आगे !

×

वह उभार वायु का सुन्दर
चित्र अभी फागुन का पूरा होने में
कुछ मीठी-सी देर और बाकी है,

×

केसर की झाईं पीली
चमचम लाल गुलालों के छोटे कन
कहाँ बिखर कर बन पाये हैं
पूरा चित्र मनोहर।
रानी को देखो
उसके श्वेत गुलाबों पर
नहीं गुलाबी चुंबन
अंकित हो लालिमा लाये हैं।

—श्रीमती शकुंत माथुर

नारी को भी नारी-रूप अधिक सुहाता है, क्योंकि संभवतः स्त्री सारी सत्ता को स्त्री-रूप में देखती है और पुरुष उसकी पूर्णता का एक माध्यम-मात्र बना रह जाता है। पुरुष में यह बात नहीं है। उसमें नारी का क्रीड़ा-रूप अधिक आता है:

तुम खिलीं, कमल खिला, दिगन्त खिल गया है। एक अश्रु-हास, एक सुवास, और एक ही किरण-पाश से अनन्त बंध गया है। आज रोम-रोम खिल रहे हैं क्योंकि दो हृदय मिल रहे हैं। एक हवा छू गई है, वसंत आ रहा है।

—आरसीप्रसाद सिंह

परन्तु सब अवस्थाओं में ऐसा नहीं होता। यह तो तत्कालीन अनुभूति की बात है कि पुरुष में नारी-भाव जागता है, या नारी में पुरुष-भाव, इन दोनों के भाव स्वतन्त्र विकास करते हैं, या दोनों दो रंगों की भांति घुलमिलकर नये रंग का सृजन करते हैं।

एक अंश तक यही सत्य है कि बाह्य से उद्भूत अंतस्थ की भावना ही काव्य में अपना प्रकटीकरण करती है और वह प्रत्येक कवि में अपनी अलग होती है, इसीलिए 'रूप' के विभिन्न स्तर होते हैं। 'फागुन की शाम का गीत' एक संगीतात्मक हिंदोल-सा है, उसमें हमें मस्ती का आलम मिलता है। पता नहीं किस युग में यह कविता अच्छी नहीं लगेगी:

भर-भर पिये उमंगों ने सौ-सौ यौवन के जाम
किस मस्ती से छलक उठी है यह फागुन की शाम!
सौ-सौ गंध पुलक भर मन में, चली हवाएँ झूम
वंशी स्वर से उठ सँझवाती दीप जगाए चूम!

कुछ पगध्वनियाँ-सी आती खेतों के पार से
झाँके सुधियाँ द्वार सजे इन बंदनवार से;

×

झमक उठे ये ढोल मँजीरे लहरे-लहरे बोल
मन बौराया, तड़पा फागुन, स्वर-स्वर जाता डोल,
अब ढलका दी सुरा दिशाओं में रस फाग ने
चौंक पहरुवे-सा आलम फिर लगता जागने
तन मन डूबा तन्मयता में, खोया-खोया ग्राम।

—अभयप्रताप

ग्रामचित्रों में कवियों ने अधिक स्वच्छन्द विकास पाया है, जो स्वाभाविक भी है, क्योंकि वहां मनुष्य ने प्रकृति पर अपने व्यवधान कम उठाए हैं और गांव के आदमी को शहर के आदमी की तुलना में ठाल भी अधिक होती है, अवकाश में वह रमता भी अधिक है, क्योंकि आखिर वह करे भी तो क्या ? किन्तु व्यक्तिपक्ष में ऐसा नहीं होता :

यह फागुन की रात शिथिल मन-प्राणों में झंकार भर रही है। दूर नदी के पार बांस के झुरमुट में चांदनी खिल रही है। हौले-हौले गूंज कर हवा के डोले पर चढ़ यह किसकी हल्की आवाज चली आ रही है, जिसकी लहरों पर मेरा मन रह-रहकर तिनके-सा बह जाता है।···आकुल-व्याकुल-सी हवा व्यथित होकर घूम रही है, जैसे प्राणों की तृष्णाएं घूमती हैं, जैसे जीवन मरण की उन रेतों पर घूमता है जिनका पानी सूख जाता है।

—श्यामसुन्दर 'अशांत'

जीवन एक लहर की भांति है, वह बार-बार लहराता हुआ मरण की धसकती वालू पर बहता है और फिर सूख जाता है। फागुन क्या मृत्यु के ऊपर अविजय ही है ? हां, ऐसा ही तो है, क्योंकि व्यक्ति प्रेम की निराशा में व्यथित है। न जाने किस अंतराल से उसके पास एक आवाज आ रही है, धीमी, बहुत धीमी। हवा व्याकुल-सी भटक रही है।

किन्तु कोकिल की मिठास का जादू तो कैसी भी व्यथा हो, उसे क्षण-भर में धो ही देता है। रसाल-कुञ्जों में मादकता छा गई है। जाने आज कोकिल कौन-सा संदेश लाई है ! अरे फागुन तो प्यार का पर्व है। अब प्रेम में स्पर्धा उत्पन्न हो गई। यहां रूप की होड़ है, कैसे अपने व्यक्तित्व का इतना विकास हो सके कि प्रियतम, अर्थात् पूर्ण, से सायुज्य स्थापित हो सके ? यह तो प्रपत्ति की पीठिका बन गई :

आज रसाल-कुञ्ज में
कैसी मादकता छाई ?
कोकिले ! कौन सँदेशा लाई ?

'आज प्यार का पर्व' प्राण
सुनते हो यह अमृत वाणी
आज मेदिनी के आँगन
ऋतुपति की होती अगवानी

क्या जानें क्या प्रात-द्रुमों में
दक्षिण पवन पुकार उठा
सहसा पर्ण-पर्ण से यह
कैसा उछाह का ज्वार उठा!

×

वृंत-वृंत में कली-कली में
केसर कुंकुम लास चढ़ी
मैं भी योग्य बनूँ प्रियतम के
उर-उर में अभिलाष बढ़ी

×

तुम क्या दोगे प्राण! सुनो वह
गाती मधुवन की रानी
एक गीत उन्मुक्त हृदय का
एक बूँद हिय का पानी।

—केसरी

गीत कोकिल का है, कोकिल मधुवन की रानी है। उसका गीत स्वतन्त्र है। उसपर कोई बंधन नहीं। उसके स्वर में करुणा भी सिमट गई है, योंही तो वह सुख और दु.ख में एक-सी आह्लादिनी ममता का सृजन करने में समर्थ होती है?

कोकिल की ही भांति रसाल भी मदन का एक शस्त्र है। स्वयं कालिदास उसे देखकर विचलित हो उठता था। न जाने वसंत के साथ कैसी रागिनी-सी गूंजने लगती है। पीली कमर के भौंरे कोठरों से निकल पड़ते हैं, तितलियां पर फरफराने लगती हैं, और छोटे-छोटे पक्षी भी अपना कलरव सुनाने लगते हैं। अरुणिमा स्वयं वसन्त की प्रतिनिधि बन जाती है। आकाश से पृथ्वी तक एक ही सौन्दर्य दिखाई देने लगता है:

मंजरित रसाल कुंज
गुंजित मधुरागिनी
वासन्ती वेश किए
करों हेम कलश लिए
पिए अधर ज्योति, सुभग
अरुणिमा सुहागिनी
मंजरित रसाल···

फूला सखि, अमल कमल
भूला मग विहग विमल
धवल नवल रूप धरे—
ऊषा अनुरागिनी
मंजरित रसाल···
बोल सीख कोकिल से
गति ले मलयानिल से
कलिका से नयन खोल
जाग री, विरागिनी
मंजरित रसाल···

—भवानीप्रसाद तिवारी

कोकिल से गीत सीखने में आनन्द आता है, कलिका जागरण का आनन्द जगाती है, विरागिनी सुहागिनी बन जाती है।

परन्तु जिसको व्यथा ने सिक्त कर दिया है वह कब तक अपने को बहला सकता है। उसे कोयल दिखाई नहीं देती। उसे तो वीराना दीखता है।

कैसी उदासी छा रही है! मीठे जहर के तीर, मीठी कसक और पीर लिए पछुवा हवा आ रही है। जीवन का पथ अछोर और घोर है। इसी प्रकार सांस चलती जा रही है। फूले चमन से रूठी हुई विजन के ठूंठ पर एक बुलबुल बैठी गा रही है।

—जानकीवल्लभ शास्त्री

भारत में बुलबुल का महत्त्व अधिक नहीं माना गया है, किन्तु उर्दू और फारसी ने बुलबुल का सौन्दर्य कुछ अंश तक प्रतिपादित किया है। और जानकीवल्लभ शास्त्री तो विद्वान कवि है, वह न केवल प्राचीन को ही अपने भीतर समन्वित करता चलता है वरन् नवीन को भी। नये कवियों में तो उसका कोमल पदावली में एकान्त अधिकार-सा है। उसके शब्दों में गमक बहुत है। उसके स्वर सुरीले हैं। बल्कि यह कहना भी अत्युक्ति नहीं होगी कि उसके गीतों में बड़ी हृदयग्राही तृष्णा है, जो रुलाती है, फिर हंसाती है, और फिर रुलाती है। फागुन की आत्मा को फिर चैत्र में उतारकर नया कवि कहता है:

चैत आया है, चैत आया है,
चैत आया, चैत के फूल लाया है।
नीमों की डाल फुनगिया गई
कि हरे-हरे पातों की झाँवरी
फूलों के गुच्छ गहगहा गये
कि गंध साथ भँवरों की भाँवरी

मीठी लगने लगी कि हरियाई
घनी-घनी बरगद की छाँव री।
महुए की गंधों की डोर पर
पीला-पीला अमलतास छाया है।
सोने की फसलों में झूल रहीं
बजती-सी सोने की बालियाँ
गहक रही गेहूँ के गालों में
बाँहों की झूमती कुदालियाँ
लटक रहे हँसुओं-से अमलतास
गोरी-गोरी बाँहों की डालियाँ
लपक-झपक हँसुओं की होड़ की
पछुए ने गीतों को बहकाया है।

—रामदरश मिश्र

बड़ी बोलचाल की भाषा में रामदरश ने बड़े नये शब्द बनाए हैं, जैसे 'फुनगिया' 'हरियाई'। लोकजीवन का चित्र है, बड़ा सरस, जिसमें मध्यकालीन यूरोपीय यथार्थ अपने पूरे रूमानी खुमार के साथ आया था। फागुन के वर्णन तो एक से एक सुहाने मिलते हैं :

आज भोर मैंने महुओं को सूने वन में चूता हुआ देखा। ऊंचे लम्बे सघन वृक्ष की बाँहें दूर-दूर तक फैली थीं और अमराई के एक किनारे पर पथ में ठंडी छाँहें लेती थीं। हरी-भरी टहनी की गोदी में चिकने-नरमीले किसलय नाच रहे थे, किरणों की क्रीड़ा में तन्मय से किलक रहे थे।

—सुमित्राकुमारी सिन्हा

टहनी की गोद में जैसे नरमीले किसलय चंचल बालक हों। ऐसे ही राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह ने वसंत में नये संचार को देखा है और वसुधा पर रंग भरती लीला का उल्लेख सफलता से किया है :

वन-वन कोयल कूक उठी, मधु के मधुमय सांचे में ढलकर सहसा जैसे वाणी निकल पड़ी।······पतझर का अन्तकाल आ गया, मधुपों का दल निकला आता है। नये-नये पत्तों से युक्त रसाल बौरों से ढँककर, प्रणत भाल से, वसुधा पर मधु का पात्र ढालते होली का क्रीड़ास्थल रच रहे हैं।

—राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह

पतझर नहीं चाहिए। चाहिए वसंत। क्योंकि उसमें न केवल आंखों को प्यार मिलता है, वरन् धरती भी तो बड़ी सुहानी लगती है। नये कवि को तो विशेषकर आज 'धरती का प्यार' बुला रहा है। वह कहीं हो, धरती पर बलिहार है। कह सकते

हैं कि 'धरती' नये युग की नई नायिका है। वेद में 'वसुधा' के वर्णन के बाद नया युग ही उसका वर्णन करता है :

आरक्त हो उठा गगन यह देखकर—
धरती कुसुमांगना लेती अँगड़ाई थी
सरसों की पीली-सी साड़ी पहन कर
यौवन के भार से शिथिल-सी उन्मत्त।
साँसों में बहता था सौरभ का गंध-ज्वार
जिसमें उफनता था मधु-मकरन्द झाग
पी-पीकर भृंग जिसे गाते थे प्रेम-राग।

×

अब शेष यह साध फूलो यदि प्यार से
अंतर के तार-तार बज उठें सस्पन्द !
सार्थक करो प्राण ! जीवन की एकता
जिससे चिरसंगिनी ! मिटे एकरसता !

×

और कुछ ही दिनों बाद धरती के अंग-अंग
मांसल सुपुष्ट से पहिन हरीतिमा के
नवल-नवल परिधान एक बार हँस उठे,
और आकाश भी हँस उठा एक बार
नखतों की पंक्ति-पंक्ति मुस्करा उठी प्रगल्भ
चाँद खिलखिला उठा बरस पड़ी चाँदनी !
और तभी क्षितिज से उतर आकाश ने
धरती को प्यार से अंक में समेट लिया।

—शीतलासहाय श्रीवास्तव

एकरसता का अब क्या काम ? धरती सूखती है, कवि का हृदय रोता है। वह कुसुमों से ढंक जाती है, सरसों की पीली साड़ी पहनती है तो अच्छी लगती है। उस समय वह यौवन के भार से 'कुचभारनमिता' सी दिखाई देती है। और तभी उसे अपनी प्रिया की याद आती है। वह कहता है कि इस समय आओ, इस जीवन की एकता स्थापित करके प्राणों की सार्थकता को सिद्ध करो। क्या दिन, क्या रात ! धरती कब अच्छी नहीं लगती ? वसंत की चांदनी आकाश से बरसती है, चांद खिलखिलाता है। उस बेला आकाश क्षितिज से भी उतर पड़ता है और धरती को प्यार से अपने अंक में समेट लेता है। धरती और आकाश कहां तो विद्यापति के उपमेय थे, कहां स्त्री और पुरुष आकर उपमेय बन गए। भोजपुरी बोली अपनी कोमलता में ब्रज से किसी प्रकार कम नहीं है। इधर बोलियों में भी बड़ी सुन्दर कविता हुई है किंतु कम ही प्रकाशित हुई है।

एक दिन उसका विकास अवश्य होगा। नये कवियों ने उसके महत्त्व को पहचाना है। भोजपुरी बोलने में जितनी कर्णकटु है उतनी ही काव्य में मधुर है, जैसे बंगाली। बसंत का एक सुन्दर वर्णन है :

बगिया के आर-पार
रसवाके बहे धार
कोइली मधुर गीत
सबके सुनावेले।
चिरई के चह-चह,
पतई के लहलह
जगवा में कहेला
बसन्त ऋतु आवेले।

×

कचनार झमकल
सीरीफल गमकल
कटहर, महुआ त
महमह महकल
अमवाँ के डढ़िया पर
झूले ले मोजरिया त
मदमाति भँवरा
चलत बाटे झहकल।
गोरिया के चढ़ली
जवनियाँ कुलाँच मारे
बाँध तूरि सगरे
चलत बिया बहकल।

—जितराम पाठक

हर शब्द में ऐसा लगता है जैसे हिमराशि पर ज्योति फिसलती चली जा रही हो। गोरी की चढ़ती जवानी का कुलांच मारना बड़ी ही चपल अभिव्यञ्जना है। यह तो है ग्रामचित्र। और दूसरी ओर है नगर का चित्र :

डामर की तीखी, बोझिल बूदार हवा है, जैसे अभी-अभी मेरा दम घुट जाएगा। फिर क्या होगा। मेरे वे रेशम-से रूमानी खयाल, वे फूलों-सी सुकुमार लजीली कविताएं, वे खेत की फसलें, उन खेतों पर विजयदृप्त कंठों का स्वर, वह हंसती-गाती फागुन की मदमस्त हवा, और उसपर उठते-लहराते, सुख के सघन स्वप्न......उनका होगा क्या ? उफ ! फिर डामर का बूदार धुंआ आ गया......।

—नंद चतुर्वेदी

एकदम कठोर चोट ! डामर की बदबू ! सभ्यता के ऊपर एक व्यंग्य । क्यों? क्योंकि वास्तव में नगर में प्रबन्ध ही कहीं-कहीं ऐसा है। बाह्य का बन्धन और आत्मा की स्वच्छन्दता दोनों का संघर्ष उठ खड़ा होता है। कवि आतंक से कांप उठता है। किन्तु जो इसे नहीं देखते, वे प्रकृति को देखते समय पहले उसकी समग्रता देखते हैं, मानवकृत विकृतियों में वे सौंदर्य की वास्तविकता को नहीं भूल जाते :

पी मेरी भ्रमरी, वसन्त में
अन्तर-मधु जी - भर पी ले
कुछ तो कवि की व्यथा सफल हो
जलूं निरन्तर, तू जी ले
चूस - चूस मकरन्द हृदय का
संगिनि ! तू मधु चक्र सजा
और किसे इतिहास कहेंगे
ये लोचन गीले - गीले ?
लते ! कहूँ क्या, सूखी डालों
पर क्यों कोयल बोल रही ?
बतलाऊँ क्या, ओस यहाँ क्यों ?
क्यों मेरे पल्लव पीले ?

×

मुझे रखा अज्ञेय, अभी तक
विश्व मुझे अज्ञेय रहा
सिंधु यहाँ गंभीर अगम
सखि ! पन्थ यहाँ ऊँचे टीले।

—दिनकर

कवि को दुःख तो है, वह सृष्टि को समझ भी नहीं सका है, परन्तु वह जो है उसे क्यों न देखे ? तभी कवि कहता है :

आज इस फागुन की दुपहरिया में सामने खिस्ती के पुराने बंगले की सुनसान पड़ी लंबी-चौड़ी छत की रेलिंग पर नारियल की तरुमाला झूल रही है, मानो गल-बहियां गूंथे सहेलियों की हारमाला खड़ी नाचती है। मानव के पुरातन बँगलों की दिशान्तरगामिनी छतों पर वसंत का मदनमोहन उजियाला जीवन का नित्य नवीन रास खेलने को उतरता है।

—वीरेन्द्रकुमार जैन

प्रकृति मनुष्य को कुरूप करने के लिए नहीं है। वह तो उसे सुन्दर बनाने आती है। जो मनुष्य की अपनी संरक्षण की चेष्टा है, उसे भी प्रकृति सुन्दर बनाती है। मनुष्य के जीवन में आनन्द कहां है ? वसन्त लाता है वह नवीन रस, नवीन

क्रीड़ा, नवीन तन्मयता। मानव की पुरातनता को प्रति वर्ष प्रत्यावर्तन-स्वरूप प्रकृति की छवियां ही नवीनता देती रहती हैं।

कवि स्वीकार करता है कि बहारें दीवाना बनाती हैं, तारे अहसान-सा करते हैं। चांदनी गीत बरसाती है। किन्तु वह बंधन होने पर सबको छोड़ देने को भी तैयार है। मूलतः मनुष्य का अहसान मनुष्य पर है और सबसे बड़ा है। किंतु प्रकृति सबको अच्छी लगनेवाली वस्तु है। कथा तो मिट जाती है किंतु सौन्दर्य कहां मिटता है?

मुझको दीवाना किया बहारों ने
अहसान किया है मुझ पर तारों ने
जिस की मुझको हर बात सुहाती है
चाँदनी गीत मुझ पर बरसाती है,
तुम कहो चाँद के पास न जाऊँगा
अँधियारे में चुप हो सो जाऊँगा
मुझ पर अहसान तुम्हारा भी तो है।
चाँदनी सभी को पास बुलाती है
मैं ही क्या, सारी दुनिया गाती है
कुछ तो गीतों से मन बहलाते हैं
कुछ घाव समय से खुद भर जाते हैं
बेहोशी है चंदन की छाँहों में
है मौत अगर फूलों के गाँवों में
जीने के लिए इशारा भी तो है।

—सुरेन्द्र तिवारी

कितनी अजीब बात कहता है यह कवि कि अगर फूलों के गांवों में मौत है तो जीने के लिए भी तो इशारा है। बड़ी गहरी सूझ है। अन्यत्र कवि कहता है:

शिशिर-समीर से कभी वसंत नहीं गला, न वह कभी निदाघ के दाह से डरा है, न जला ही। विनाश के पथ पर वसंत अजर-अमर पथिक है। वह नवीन कल्पना है, नवीन साधना है, नवीन स्वर है। उसमें सदा मरण नवीन जन्म के रूप में पल्लवित होता है। वसंत के चपल चरण नवीन छन्द रच रहे हैं।

—रामदयाल पाण्डेय

यह है वसंत की नयी अभिव्यक्ति कि वसंत जोकि रूप है, वास्तव में मनुष्य के लिए एक प्रेरणा है। सेनापति बिचारे के पद में दो-दो तीन-तीन अर्थ थे, विद्यापति के शब्दों में कंगन झमकते थे, किन्तु नये कवि की वाणी का आश्वासन उनका युग तो उनके शब्दों में नहीं भर सका था, बल्कि मैं तो कहूंगा कि छायावादी कवियों में भी इतनी बात तो नहीं मिलती।

पतझर ने कवि को इस तन्मयता की ओर खींचा है। उसने प्रत्येक सृजन के

पीछे अतीत में एक आनन्द की छवि को देखा। उसे एक दिन अपने अतीत में विश्वास था। आज वह कांपता है। लेकिन क्यों? भगवतीचरण वर्मा छायावाद की कोमलता के विरुद्ध उठनेवाला कवि था। उसके समय में समाज की परिस्थितियां ऐसी थीं कि वह केवल अतीत से पीछा छुड़ाना चाहता था :

पतझड़ के पीले पत्तों ने प्रिय, देखा था मधुमास कभी
जो कहलाता है आज रुदन वह कहलाया था हास कभी
आँखों के मोती बन-बनकर जो टूट चुके हैं अभी-अभी—
सच कहता हूँ, इन सपनों में भी था मुझको विश्वास कभी।

—भगवतीचरण वर्मा

अपने वर्तमान की वास्तविकता की ओर इंगित करनेवालों में भगवतीचरण वर्मा का साहित्य में अनन्य स्थान है। उसने एक समय सबको झकझोर दिया था। उसने जीवन के यथार्थ को जगाया :

आलोक दिया हँसकर प्रातः अस्ताचल पर के दिनकर ने
जल बरसाया था आज अनल बरसाने वाले अम्बर ने
जिसको सुनकर भय शंका से भावुक जग उठता काँप यहाँ
सच कहता हूँ कितने रसमय संगीत रचे मेरे स्वर ने।

—भगवतीचरण वर्मा

अपने अतीत को भी उसने भावुकता से मुड़कर देखा किन्तु फिर वह व्यथासिक्त हो गया। उस समय की विद्रोही चेतना का उत्स व्यक्तिवाद में बदल जाता था क्योंकि उसके पीछे अध्ययन का कुछ अभाव था, बल्कि यह कहना चाहिए कि पराधीन देश में होने के कारण युवकों में आवेश अधिक था। यदि देशकाल की सीमा से हटाकर इस कविता को देखा जाए तो इसमें हमें नये जीवन की प्रसव-पीड़ा का आभास अवश्य ही प्राप्त होता है।

इस पक्ष में स्त्री-पुरुष-संबंध में भी अत्यंत मुखर रूप से प्रेम-संगीत उठानेवाला कवि भगवतीचरण वर्मा ही था, जिसने एक समय युवकों को बहुत प्रभावित किया था। आज तक उसके वे स्वर हिन्दी की नई कविता में हमें सुनाई देते हैं, यद्यपि प्रत्येक कवि में अपनी मौलिकता विद्यमान होती है :

तीन पातों में खिले दो फूल, जिनमें एक तुम हो, एक मैं हूँ
है गुलाबी-सा तुम्हारा
औ' अरुण-सा एक मेरा
खिल गई हो नीरजा ज्यों
देखकर अरुणिम सबेरा

और तीनों पात जैसे
लोक तीनों देखते हों
आज सब के नयन में दो शूल, जिन में एक तुम हो, एक मैं हूँ।

×

प्राण ! सुधि की डाल पर
दो फूल ये मैंने सजाये
है शपथ ऋतुराजि !
इसमें अब कभी पतझर न आये
नित नये गुंजन सुनाऊँगा
इन्हें अपने हृदय के—
गीत मेरे तुम न जाना भूल जिनमें एक तुम हो, एक मैं हूँ।

—जगतप्रकाश चतुर्वेदी

तीन लोकों के बीच प्रेमी और प्रेमिका ऐसे हैं जैसे तीन पातों में दो फूल खिल रहे हों। क्या व्यापकता है ! प्रेमी के हृदय की विशालता, व्यापकता देखने योग्य है। प्रेम का बड़ा त्रिविक्रम-स्वरूप है ! किन्तु प्रेम लोक में मान्य अब भी नहीं है। प्रिया और प्रिय दोनों सबकी आंखों में शूल-से गड़ते हैं। कवि का चित्र बदलता है। अब वह स्मृतियों की डाल पर दो फूल सजाता है। वे कौन-से हैं ? एक वह स्वयं है, एक उसकी प्रिया है। नहां यह तो चित्र हैं, स्मृति-मात्र में जीवित। इस चित्र को वह अक्षुण्ण रखना चाहता है, कि इन फूलों पर तो पतझर को कभी आना ही नहीं चाहिए।

पतझर का आतंक विनाश का संकेत है। किन्तु कवि सदैव उससे नहीं डरते। वे अपनी परिवर्तनशीलता में उसकी अनुभूति को ही बुरा समझते हैं :

नहीं चाहती मैं चिर यौवन
अपना वह रूखा-सा बचपन
मैं इच्छुक हूँ उस ममता की
जिस में उर से उर जाता मिल !

—तारा पाण्डे

चिर यौवन तो देवताओं में होता है। उसे लेकर होगा भी क्या ? नीरसता ? एकरसता ? इससे तो अच्छा होता है—बचपन, जिसमें हृदय को हृदय से मिलने में विलम्ब नहीं होता। क्योंकि अविचलित निर्द्वन्द्व सहजता होती है उस समय ! उस मादक स्निग्धता से हृदय पुकारता है :

मेरे गीतों में भरी देव !
पागल पिक के उर की पुकार !
बन गई चाँदनी अंगराग
भर रही अंग में नव पराग

मेरी आँखों से झरते हैं प्रिय,
अश्रु नहीं ये हरसिंगार !
केसर से रंजित कर दुकूल
हँसती हूँ खिलते सुभग फल
मेरी साँसों में बहती है
मधुऋतु की मृदु सुरभित बयार !
दो देहों के हम एक प्राण
गावें जीवन के मधुर गान
मेरे सूने उर से मिलकर
मेरे बन जाओ, हे उदार !

—तारा पाण्डे

मैं स्वयं वसंत हूं। हमारा मिलन हमारे सौन्दर्य की चरम सफलता है। नारी का हृदय तो इस मिलन को और भी गहराई से पहचानता है, क्योंकि सारा काव्य बता रहा है कि व्यथा पुरुष में दाह है, नारी में रिक्ति। दोनों का संतुलन हो तो कहां ? आत्मलय में। वसंत की यह नई माधुरी पहले की सारी छवियों में अपना अलग स्थान रखती है।

प्रेम वसंत का अथ है, इति है। उसका जब तक वसंत से पूर्ण तादात्म्य नहीं हो जाता तब तक कोई न कोई वेदना बची ही रह जाती है। बिना प्रेम के यह वसंत भी व्यर्थ ही होता है। इतना जो छवि का वरदान है उसका मूल्य ही क्या है ? बिना प्रेम के अमरता का अभिमान भी व्यर्थ ही है। दर्शन तो तब तक असहाय ही है जब तक कि एक का स्वर दूसरे की विभोरता का साधन नहीं बन जाता :

जो न बन पाई तुम्हारे
गीत की कोमल कड़ी,
तो मधुर मधुमास का वरदान क्या है ?
तो अमर अस्तित्व का अभिमान क्या है ?
तो प्रणय में प्रार्थना का मोह क्यों है ?
तो प्रलय में पतन से विद्रोह क्यों है ?
आय, या जाये कहीं—
असहाय दर्शन की घड़ी।
सूझ ने ब्रह्माण्ड में फेरी लगाई
और यादों ने सजग घेरी लगाई
अर्चना कर सोलहों साधें सधी हाँ
सोलहों शृंगार ने सौंहें बदीं हाँ

मगर हो कर, गगन पर
बिखरी व्यथा बन फुलझड़ी।

×

रूप ने आराधना से हार पाई
और गुण ने गगन पर सूली सजाई।
स्वप्न का उपवन सुखा
डाला, कि जब आई घड़ी।

—माखनलाल चतुर्वेदी

तन्मयता सबसे श्रेयस्कर है। केवल रूप तब तक सफल नहीं है जब तक कि उसमें श्रद्धा की पवित्रता नहीं है, नम्रता की आसक्ति नहीं है, तल्लीनता की रीझ नहीं है। आराधना रूप से पराजित नहीं हो सकती। गुण—अपने व्यापकतम अर्थ में वेदना को स्वीकार करता है, किन्तु उसमें असीम साहस है, वह भाग्य के फंद को काटता है। कवि ने इस कविता में एक अस्पष्ट ढंग की मनुहार भी की है, जो उसके रसमय प्राणों की आकुलता को भी प्रकट करती है।

पतझर की अब बलिदान-कहानी उभर रही है। धरती पर पात ही पात हैं, पीले-पीले। ठहरो! यह विनाश अपने-आपमें पूर्ण नहीं है। अब एक नया जीवन फिर से झांकनेवाला है। और उसमें नये जज़्बात होंगे। कवि देख रहा है कि अब परिवर्तन शीघ्र ही होनेवाला है:

ठंडी मीठी शरबत-सी रंगीन
हवाएँ कहती हैं
खामोश कि—
देखो अब धरती पर—
पतझड़ की बलिदान कहानी
उभर रही है।
इन नंगे बूढ़े-खूसट-से
पेड़ों की बर्बाद जवानी
किसलय बन कर
कोंपल बन कर
नव पल्लव के घूँघट वाली
कलियाँ बन कर,
प्रिय सुहाग की लाली बन कर,
सिंदूरी किरणों के नीचे,
धूप-छाँह में
वृन्त-बाँह में

लुक कर
छिप कर
भौरों के जज़बात रूप में
तरल रवानी निखर रही है।

—नवरत्न स्वर्णकार

यह तो तरल रवानी है। किन्तु जोकि अपने जीवन की घुटन में त्रस्त हैं, उन्हें भी क्या ऐसा ही दिखाई देता है? नहीं। वे निराशा से आर्त हैं। उनके सामने जीवन एक अन्धकार बनकर आता है। वे कहते हैं:

क्या खिलने से भी पहले मुरझानेवाली कलियां तुमने देखी हैं? क्या खुलने से पहले ही मुंद जानेवाली आंखें देखी हैं? क्या जलने से पहले बुझ जानेवाले दीपक देखे हैं? क्या टूटे दिल घुट-घुटकर योंही मर जानेवाले देखे हैं?

—अम्बाप्रसाद 'सुमन'

किन्तु नयी कविता में ऐसे एकांत घुटन के स्वर कम ही मिलते हैं। बहुधा उनमें झुकाव आता है। वे नहीं आए और ऊपरी मन से आशा ही आशा के झूठे गीत गाए जाएं तो उनमें क्या सजीवता आ सकेगी? नहीं, समग्र मानव का चित्रण कविता में सदैव श्रेयस्करी विभूति भरता है। कवि स्वयं अनुभव करे तो वह जो चाहे लिखे, दुःख भी, आनन्द भी:

आज पतझर के उदर में
जम गया आरंभ अभिनव पल्लवों का।

×

दोपहर में ढाक झुरमुट में नये पर्णों-लदी
किंशुक रँगी वसुधा वसित
ग्रामीण गोपों की मनोहर बाँसुरी के राग का—
हो गया आरंभ
आज मृत प्राचीनता ने ली बिदाई
आज अणु-अणु ने पुनर्नवजन्म की अभिवंदना की···
नग्न वृन्तों के हृदय में प्रेम-पर्णा नव-विजन-श्री
प्रतिफलित है आज।

×

आज जीवन के बदलते साधनों ने
जीत ली है एक मंज़िल।

×

ऋतुमती संस्कृति युवति भी, आज कर संक्रान्ति का ऋतु-स्नान
आ गई है सामने लज्जित नयन, धार तन पर पीत नव परिधान।

………और पहली बार उसको
मिल रहा जन-जागरण का स्नेह।

×

बर्फ की सिल-सी पिघल कर बह चली है रात
स्फटिक बोतल में भरे जल-सी
शिशिर की चाँदनी यह ढुल रही है

×

रात सारी गल चुकी है, मिट चुकी जीवन निशा भी
दे गई जो फूल की नव पाँखुरी को ओस का माधुर्य

×

मिट गया है ध्वान्त भी कल्पान्त का
अब नया संसार, मेरा प्यार कल साकार होगा।

—हरिकृष्ण व्यास

अब मृत प्राचीनता जा रही है, नये पुनर्जन्म की अणु-अणु ने अभिवन्दना की है। नंगे वृंतों पर नयी श्री फूटी आ रही है। जीवन के साधन बदल रहे हैं और उन्होंने एक नयी मंज़िल को जीत लिया है।

संस्कृति का ऋतुस्नान करना कहां तक उचित है समझ में नहीं आता, क्योंकि परंपरा में संस्कृत कवि गर्भाधान के लिए ऋतुस्नान का वर्णन किया करते थे। खैर। छोड़िए।

रात बर्फ की सिल की तरह पिघल रही है, और स्फटिक यानी बिल्लौरी बोतल में भरे हुए जल-सी जाड़े की चांदनी ढुल रही है। बहुत सुन्दर कल्पना है!

कल्पान्त का अंधकार मिट चुका है, नया संसार जाग गया है, अब कवि का प्यार साकार हो जाएगा। तभी झूमते स्वर उठते हैं:

गूँथ री गीतों के गलहार, गूँथ री गूँथ गीत के हार!
खोल री खोल हृदय के द्वार! आज है यौवन की मनुहार!
बैठ जाकर खेतों के कूल, उमंगों के चुन-चुनकर फूल
गूँथ ले भँवरों की गुंजार, गूँथ री गूँथ गीत के हार
आम की डाली-डाली कूक, कोइलिया उठा रही है हूक,
गूँथ ले 'रति' औ' 'स्मर' का प्यार! गूँथ ले गीतों के गलहार!
सखी री घर-घर आज विहार! उमड़ता मन में प्यार दुलार!

—सुमित्राकुमारी सिन्हा

अरी गीतों के गलहार गूंथ लो। आज यौवन की मनुहार है। चारों ओर आनन्द उमड़ रहा है।

कब तक वसंत को देखकर कवियों को आनन्द आया करेगा? क्या किसी 'वाद'

के अन्तर्गत वसंत-छवि का वर्णन भी 'प्रतिक्रिया' बन सकेगा ? क्या फूलों पर नाचते भौंरो के वर्णन को भी 'वर्ग-संघर्ष' से 'पलायन' माना जाएगा ? क्या कवि के हृदय को प्रकृति से खेलने की स्वतन्त्रता नहीं होगी :

नगरों से दूर-दूर, डगरों से दूर-दूर फूल रही सरसों !
झूम-झूम मधुर-मधुर, चूम-चूम निहुर-निहुर
खेतों की गोद में झूल रही सरसों !
फूल रही सरसों !
सोने-सी पीली रे, चंदा चमकीली रे,
रेशम के ओढ़े दुकूल बही सरसों !
फूल रही सरसों।

—सुमित्राकुमारी सिन्हा

'निहुर-निहुर' की इतनी सरस और सप्राण अभिव्यक्ति है कि मैं दूर तक लहलहाते 'निहुर-निहुर' खेतों को देखता हूं। हवा के झोंकों पर झूमता खेत, जैसे सरसों बह रही हो :

मन का विषाद घोलो ! उर द्वार आज खोलो !
देखो सुगन्ध झोली, भरकर बयार डोली !

—सुमित्राकुमारी सिन्हा

इसीलिए वसंत सुन्दर है। आओ न ! क्यों अवरुद्ध से बैठे हो ? तुम अपनी विकृतियों में हो ? नारी पृथ्वी का प्यार है। उसके आवाहन में सृष्टि की आनन्दमयी धड़कन को सुनो।

यही आनन्द की दूसरी उफान नये कवि में आती है जब वह सावन के पास आता है। बादल तो इतना घिरा है, इतना बरसा है कि काव्यांगरण भर गया है।

वर्षा की सरसता जीवन की सरसता की ओर इंगित करती चलती है। वसंत और वर्षा, वास्तव में यही दो ऋतुएं बड़ा परिवर्तन उपस्थित करती हैं। एक शीत की कठोरता के बाद, एक ग्रीष्म की दुस्कर तपन के उपरांत। जिस समय बादल दीखता है, कवि-हृदय नाच उठता है :

मयूरी नाच मगन मन नाच !
गगन में सावन घन छाए, न क्यों सुधि साजन की आए
मयूरी आँगन-आँगन नाच ! मयूरी, नाच मगन मन नाच !
धरणि पर छाई हरियाली, सजी कलि कुसुमों से डाली;
मयूरी मधुवन-मधुवन नाच ! मयूरी नाच, मगन मन नाच

—बच्चन

कवि ने मयूर को नहीं नचाया, यह उसके नागरिक जीवन का प्रभाव है। शायद उसने कल्पना से ही लिखा है। मयूरी का नृत्य तो मयूर के नृत्य के सामने कुछ

भी नहीं होता ! किन्तु यहां तो लक्ष्य उल्लास है, मन की उमंग की प्रधानता है। यहां मधुवन का अर्थ सुन्दर कानन है, मधु का वन नहीं।

आनंद का उद्रेक गीत की भारालस वेदना में जाकर अपनी तृप्ति ढूंढ़ता है। यह कौन गा रहा है कि पीड़ा जागती आ रही है। जब मन की तान अभावों की रागिनी में मिल जाए तब ही तो कवि कहता है :

कौन गाता है कि सोई
पीर जागी आ रही है !
पर अभावों की अरी ओ रागिनी, तू कब अकेली
तान मेरे भी हृदय की ले, बनी तेरी सहेली,
हो रहे होंगे ध्वनित कितने हृदय यों साथ तेरे
तू बूझाती, बूझती जाती युगों से यह पहेली—
एक ऐसा गीत गाया जो सदा जाता अकेले
एक ऐसा गीत जिसको सृष्टि सारी गा रही है···

—बच्चन

वेदना में जाने कितने हृदय एक-सी अनुभूति से भर जाते हैं।

प्रेम की अधिक व्यक्त अनुभूति में हमें नारी की कोमलता मिलती है, जिसमें वह अपने ही रूप को वर्षा से प्रायः एकाकार करके देखती है। भारत के बाहर इस प्रकार की कविता शायद लिखी ही नहीं जाती।

मन मतवाला तरस रहा है। आसमान में घिरी हुई बदरिया रिमझिम-रिमझिम बरस रही है। पिया दूर है। इस 'पिया' का तो सारे भारत में एक बड़ा भारी इतिहास है। यह परमात्म छवि को अपने प्रियतम के रूप में देखना, कभी इसी आधार पर उठ खड़ा हुआ था कि अन्य अव्यक्त रूपों में अपने प्रिय का रूप सबसे अधिक सुन्दर था। और मातृपूजा के विकसित रूप शाक्त उपासना को ही इसका मूल समझना बहुत उचित होगा। सारे मध्यकालीन रहस्यवाद में शिवशक्ति ने ही अपने स्वरूप को व्यापक बनाया था। कवि-हृदय कहता है :

मन मतवाला तरसे
आसमान में घिरी बदरिया
रिमझिम रिमझिम बरसे
पिया मिलन की आस लगाकर
आँसू क्यों छलकाए
प्रेम पंथ की जोगिन बनकर
इतनी क्यों भरमाए ?
देख रही क्यों प्रेम-नगरिया
बड़ी दूर इस घर से ?

जलने दे वह दीप कि जलकर
अंधकार मिट जाए
पायल तेरे बजें कि सुनकर
आसमान हिल जाए।
रैन बसेरा तेरे पिय का
दूर न तेरे घर से।

—हीरादेवी चतुर्वेदी

और यह है अपनी व्यापकता की अनुभूति कि प्रिय स्वयं में रमा हुआ है, वह दूर है ही नहीं। प्रकृति के क्षेत्र में मानवीकरण की भावना को भी इसी प्रकार के रहस्य के आवरण में ढका गया है :

खोल ! अपने नयनों के पट खोल ! माधवी ! आलस-भरी पलकों पर स्वप्न और डालों पर विकल रसिक भ्रमर चंचल-से कब से डोल रहे हैं। तू विटप-हिंडोले पर सोई, तुझे जगाया उन्होंने, पर जागी नहीं।......मोती का अनमोल हार तुझे पावस घन ने पहनाया। किंतु तू तो स्वप्न में ही डूबी रही, तूने इसका मोल नहीं जाना।

—राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह

ऐसे रूपों में 'पुरुष' के प्रति एक विस्मय भाव से भरी हुई अनुभूति होती है, और 'नारी' के प्रति लावण्य और रूप की भावानुभूति हुआ करती है। दोनों का आधार एक ही होता है। वह है तादात्म्यपरक सान्निध्य के लिए प्रेम की पीड़ा। जब कभी इसमें फर्क पड़ता है तब हमें बाह्य अनुभावों का भी वर्णन मिलने लगता है।

नई कविता में कवि अनेक नई परिभाषाएं देता है। सावन तो केवल बराए-नाम बीच में आगया है वैसे बात तो मन की है :

**वह एक अधरी बात मुझे प्यारी है
प्रिय सावन की बरसात मुझे प्यारी है !
है याद वही जिसमें कुछ-कुछ तड़पन हो
है दर्द वही जिसमें कुछ अपनापन हो
है स्वप्न वही जो सत्य न बनने पाये
है राग वही जिसमें मन का कम्पन हो,
युग की सीमा अज्ञात मुझे प्यारी है।
है जीत वही जिसमें जीवन का बल हो
है हार वही जिसमें अधीर हलचल हो,
है ध्यान वही जो परिधि ज्ञान की तोड़े
अनुमान वही जिसमें विवेक का छल हो,**

—श्यामबिहारी शुक्ल 'तरल'

युग की अज्ञात सीमा कवि को प्रिय है। अज्ञात क्यों ? यह इसलिए कि ज्ञात सीमा मन को बहुत ही कचोटनेवाली होती है। कवि जीत में जीवन का बल मानता है और हार में अंत नहीं मानता—निरंतर बढ़ते रहना ही अच्छा समझता है। मनुष्य के रूढ़िबद्ध ज्ञान की परिधियों को केवल ध्यान ही तोड़ सकता है। और अंत में कवि एक लाजवाब बात कहता है कि विवेक बड़ा छल करता है। हम अपनी इच्छाओं, वासनाओं और उद्विग्नताओं की तृप्ति करने के लिए अनुमानों से काम चला लिया करते हैं किन्तु अनुमान क्या है ? जब हम विवेक से ही सब कुछ का हल निकाल लेना चाहते हैं तब सापेक्ष ज्ञान की शक्ति रखनेवाले हम विवेक के बल पर अनुमान करते हैं। अनुमान इसीलिए विवेक का छल हुआ करता है।

राजस्थानी में भी कवियों ने अपना चमत्कार दिखाना प्रारम्भ किया है :

तीतरबरणी चूँदड़ी ने
काजलिया री कोर
प्रेम में बँधती आवै
रूपाली गिणगोर।
झूठी प्रीत जताती,
झीणे घूँघट में शरमाती
गाती आवै
बिरखा बीनणी।
घिर-घिर घूमर रमती, रुकती थमती
बीज चमकती, झब-झब पलका करती
भँवती आवे
बिरखा बीनणी।
आ परदेसण पाँवणीजी
पुल देखेनी बेला,
आलीजा रे आँगण में
करे मनाँ रा मेला!
झिरमिर गीत सुणाती
भोले मनड़े रे भरमाती
छलती आवे
बिरखा बीनणी।
लूम झूम मदमाती मन बिलमाती
सौ बल खाती, गीत प्रीत रा गाती
हँसती आवे
बिरखा बीनणी।

—रेवतदान

राजस्थानी बोलने में मीठी और गाने में उससे भी अधिक मीठी है, और उसमें कमाल यह है कि गम्भीर और परुष की आवश्यकता होने पर वह बेमिसाल हो जाती है। सारे भारत में मुझे सबसे उम्दा बोली राजस्थानी लगती है। हो सकता है कुछ लोगों को विशेष पूर्वाग्रहों के कारण इससे मतभेद हो। राजस्थानी कविता का लोहा तो 'सोनार बाँगाल' के कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी माना था। वर्षा का रेवतदान ने कितना सजीव वर्णन किया है! बिरखा का आगमन कितना रंगीन है! तीतरबरणी तो चूंदरी पहन रखी है। उसके शब्दों में वर्षा की ध्वनियां निकलती हैं।

अवधी के कवि चंद्रभूषण त्रिवेदी ने भी वर्षा का सुन्दर वर्णन किया है। अवधी में एक फिसलन है और वह यहां भी मौजूद है। सामाजिक अवस्था भी इसमें झलक आती है। जहां खेतिहर का पसीना गिरता है वहां कारे घन लाख मोती निछावर करते हैं। जल के धागों से धरती के लिए वे हरी साड़ी बुनते हैं :

हम तपी धरा के कन-कँन पर
रिमझिम-रिमझिम कंछित रसकन,
हम नील गगन के कारे घन!

×

भरि कै रस-धार सँजोगिन के
हिय, नयन पुतरियन माँ हरसी।
हम परदेसी के आँगन माँ
बिरहिन के अँसुवा बनि बरसी।
जहँ गिरत पसीना खेतिहर का
तहँ-तहँ लाखन मोती बारी
जल के धागन ते बिनि लेइत
धरती के हित हरियर सारी
लायन युवतिन के लट छिटकनि
बन-बन मोरवन का सुख नर्तन।
बिरछन बेलिन लहकनि कुहकनि
नदियन नारन लहरनि बिछुलनि।
मिरदंग गगन गम-गम गमके
भुँइ पर कजरी झूला सावन
हम नील गगन के कारे घन!

—चंद्रभूषण त्रिवेदी

आकाश में मृदंगों की-सी ध्वनि गूंजती है, जैसे कालिदास का मेघ गूंजता था, संगीत-प्रहत मुरज की भांति स्निग्ध-गंभीर घोष करता था, और पृथ्वी पर कजरी गाई जाती है।

इस प्रकार के चित्रण बड़ा हल्कापन-सा फैलाते हैं। यहां दिमाग नहीं लड़ाना पड़ता। बादल और वर्षा से अपनापन हो जाता है और फिर भी चित्रण आत्मपरक न होकर बाह्यपरक बना रहने में समर्थ होता है।

सुदूर लाल पंखों के पक्षी उड़ रहे हैं, प्रकृति के नयनों का काजल मोती बनकर बिखरने लगा है, किन्तु मनुष्य अब केवल प्रकृति के रूप में ही सीमित नहीं रह जाता, वह मानव के जगत् पर भी अपनी दृष्टि डालता है, क्योंकि उसकी दृष्टि फैल रही है :

कैंची जैसे पंखोंवाले लाल परिन्दे
दूर क्षितिज के घन-गर्जन पर
कलरव बनकर बोल रहे हैं
बादल के पर डोल रहे हैं—
कुदरत की आँखों का काजल
वासन्ती वैभव का मृगजल
सुर्ख़ चमन की फिसलानी रंगीन सेज से—
शबनम बनकर
मोती बनकर
पीली-सी बेजान रेत पर बिखर रहा है।
खेत और खलिहानों की भीगी धरती पर—
देख रहीं बे-नूर निगाहें—
अपनी बुझती हुई शमा को,
तड़प-तड़प दम तोड़ रही, अनजान जमा को,
मांस-पिण्ड को,
दिल के लुटते लाल खण्ड को—

×

देखो मेरे जीवन का ऋतुराज स्वयं ही
दूध और दाना-पानी के कटु अभाव में,
बेवस होकर, बाँह छुड़ाकर
बर्फ़ानी खूँख़्वार मौत के गले गोद से उतर रहा है।

—नवरत्न स्वर्णकार

वह प्रकृति को मानव से अलग करके नहीं देखना चाहता, क्योंकि इसमें उसे पूर्णता की अनुभूति नहीं होती। इस प्रकार के चित्रण करुणा नहीं जगाते, वे एक प्रकार की बेचैनी पैदा करते हैं। वर्ड्सवर्थ ने भी कहा था कि इस विचार से मैं और भी दुःखी हो जाता हूं कि मनुष्य ने मनुष्य की क्या हालत कर दी है, क्योंकि प्रकृति में सब कुछ इतना संतुलित और सुन्दर है। वहां हम दर्शन की ओट भी पाते हैं। किंतु यहां हमें दर्शन नहीं, जीवन के कठोर यथार्थ के आगे लाकर खड़ा कर दिया जाता

है। हमारी दरिद्रता मुंह वा उठती है। कवि देखता है कि बाकी सब कुछ बाहरी है, वास्तविक आपत्ति तो मनुष्य की सर्वभक्षिणी क्षुधा है !

किन्तु बादल केवल विद्रोह का पर्याय नहीं रहा। कवि को अपने प्रेम का विवेचन करते समय याद आता है कि मनुष्य सदैव प्रेम करता रहा है और उसके रूप का भी, जहां तक उसका प्रकृति से संबन्ध है, प्रायः एक ही सी अनुभूति प्राप्त करता रहा है। कवि कहता है :

आज के पहले अनेकों बार।
कभी वातायन, कभी निज कक्ष से
कभी कम्पित गात ले दृढ़ वक्ष से
कभी आँखों में हृदय की प्यास ले
कभी प्राणों में अमित उल्लास ले,
कर चुका हूँ मेघ, तुमको प्यार !
आज के पहले अनेकों बार।

कवि कालिदास के मेघ की ओर भी इशारा-सा करता है और फिर प्रेम का उल्लास कहलाता है :

नीप के तरु कण्टकित करते हुए
प्राण प्यासी झील के भरते हुए
कभी उन्नत विंध्य पर चढ़ते हुए
नर्मदा की लहर पर बढ़ते हुए
छू चुके हो सजल मेरा तीर
छेद कर दूरी, हृदय को चीर

—भवानीप्रसाद मिश्र

विरह की दूरी तो दूर होती है, किन्तु हृदय तो मानो विदीर्ण हो जाता है। भवानीप्रसाद मिश्र में यही सिफत है कि उसकी कविता प्रायः गद्य-सी लगती है, उसमें ओज का अभाव बहुत है, फिर भी उसमें प्रसाद गुण है। उसका हृदय जैसे बहुत भारी रहता है। किसी भी क्षण उसमें उल्लास हिलोरे नहीं भरता।

नन्ही-नन्ही फुहारों का पड़ना, रात-भर मेघों का गर्जन, सपनों की रेशमी डोर का टूटना, उचटी नींद पर बिजली का अपनी कजरारी सेज पर तड़प उठना।

—कन्हैयालाल 'चंचरीक'

इत्यादि दृश्यों की सी उद्वेग-भरी उत्तेजना उसमें कहीं मिलती ही नहीं।

धरती का सुकुमार गात है। उसे जेठ मास की लंबी-तपती दोपहरी ऐसे झुलसा डालती है, जैसे वह कोई बियाबान का फूल हो !

—कन्हैयालाल 'चंचरीक'

जब वर्षा आई है तो कवि सहसा सरस हो उठता है। उसको लगता है मानो मिलन का

त्यौहार आ गया हो। उसके स्वर में एक वाचालता भर आती है। सुयोगी बहुत ही सरल सौष्ठव से वर्षा का बड़ा हृदयग्राही वर्णन करता है। उसके काव्य में नज़ीर का सा मुहाविरा मिलता है जो काव्य में बड़ा उभार लाता है :

कि देखो आया मिलन त्यौहार
खेतों की मेड़ों से बुलाता उनका रिमझिम प्यार।
दूर-दूर तक टेढ़ी डगरिया नागिन-सी बल खाती,
ताल-तलैया में लहराती भरी जवानी गाती,
मधु-वर्षण की बेला यह तो करलो आँखें चार।
कहीं उतरते मेघ धरा पर मल्हारें-सी गाते,
किसी सघन घाटी पर थककर पंछी गीत सुनाते,
सावन की रुत बड़ी सुहानी श्यामघटा लहराती,
जैसे कोई नयन मिलाकर नयनों में शरमाती,
धीरे-धीरे मस्त नयन से करता कोई वार।
अंबुआ पर कोइलिया बोली, झूम उठी मन-डाली
पंख घिरे हैं नभ में जैसे झुक आई अँधियाली,
सपनों में इक हंस उड़ा था नीले पर फैलाता,
कभी घेरकर चाँद दूधिया नयन चूमता जाता,
धीरे-धीरे मुक्त धरा पर उतरा सजल प्रभात।
उनके नयनों के काँटे ने मन की मछली पकड़ी,
घायल करके छोड़ दिया जब मेरी नस-नस फड़की,
आग-आग चिल्लाता फिरता, पर बल खा जाती हैं
एक बूँद बिन जान तोड़ता, पर मुस्का जाती हैं
कलियों के मासूम दिलों में छिपे हुए हैं खार।
धरती का मुख चूम रही है अंबर की उजियाली,
अंबर का मुख चूम रही है धरती की हरियाली,
मेरे मन में विरह तड़पता मैं किसका मुख चूमूँ,
कैसे जीवन के बादल से अपनी बिजली ढूँढूँ,
धरती की छाती पर होती चुंबन की बौछार।

—शिवनारायण सिंह 'सुयोगी'

प्रभात आया है। सारी प्रकृति आनन्द से सराबोर होकर एक वासना से भर गई है। सहसा ही कवि को अपने एकांत का ध्यान हो आता है। किन्तु धरती पर होती हुई चुंबनों की बौछार को वह नहीं भूलता।

धान के खेतों की सुगंधि की भांति कविता कागज़ पर आती हुई जादू-सी है। बहुत दूर तक रेत की तलहटी में मन्द-मन्द हवा चल रही है जैसे पानी पर कागज़

की नाव हो, कल्पना-कमलिनी उड़ी-उड़ी लगती है। सामंतीरथ का केतु झुका हुआ-सा डूब रहा है। चिड़ियां टुहुक-टुहुक बतिया रही हैं, बढ़ते हुए बाजरे के खेत कांप रहे हैं, पलाश के पत्तों पर श्रद्धा के कीड़े हैं, ईख के पत्तों पर फतिंगों का प्यार खेल रहा है।

—शिवमूर्ति 'शिव'

ऐसी है यह वर्षा

अन्यत्र कवि इसको प्रेम की डोर में बांधकर देखता है :

वेणु बजी सुधि के कदम्ब पर मन फूला रे
व्याप गई बिजली-सी कोई
साँस-साँस के तार में,
दिल की एक-एक धड़कन
गुँथने को आकुल प्यार में,
नयन-हिंडोले पर चढ़ प्रीति पवन झूला रे।
पारस परस तुम्हारी सुधि का
पाकर पावन प्राण हो गए,
पिघल-पिघलकर पानी मन के
घनीभूत अभिमान हो गए।
मन की रानी का मन आज बना दूला रे।

—नगेन्द्रकुमार

जैसा हमने अभी कहा है, ओज की अभाव-भरी छाया में भी कवि कभी प्रसाद से नहीं हटता। एक क्षण आता है जब वह आनन्द का स्वर उठाना चाहता है। उस समय उसमें एक बड़ी आकर्षक माधुरी मिलती है। किन्तु उसका वाक्य-विन्यास, हां पद-विन्यास नहीं, पूरा आनन्द तो रोकता है, फिर भी उसमें एक हल्की-सी चपलता मिलती है :

पीके फटे आज प्यार के पानी बरसा री!
हरियाली छा गई हमारे, सावन सरसा री
बादल आये आसमान में, धरती फूली री
अरी सुहागिन, भरी माँग में भूली-भूली री,
बिजली चमकी, भाग सखी री, दादुर बोले री,
अन्ध प्राण ही बही, उड़े पंछी अनमोले री!

—भवानीप्रसाद मिश्र

स्फुरण में जो प्राण है, वह अचानक ही उठ आता है। उसके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। वह तो मानो कवि में पहले से ही उपस्थित रहता है।

अब रोक क्यों? आ जाओ! रिमझिम हो रही है। बहारें उसके तार पर

मल्हार छेड़ रही हैं। सुयोगी में यह विशेषता है कि वह उत्सुकता और समस्या का हल साथ-साथ देता चलता है :

> आ भी जाओ
> बहारों ने रिमझिम के तार पर है
> छेड़ी मल्हार.......
> ये बरफीली ऋतु है, बरफीली आग
> गगन से धरा तक जितने हैं तार
> हर नया गीत हैं मौज का छेड़ते
> हर दिशा व्योम रस में मगन है अपार
> यह पानी का घूंघट हटा दो जरा
> इस टूटी जवानी का ले लो सितार
> हरियाले खेतों की उठती जवानी
> हर पत्ता सुनाता है दिल की कहानी
> चाँदनी बरसती या चाँदी का रँग
> ये चंपा-चमेली बनी हैं दिवानी
> ये लहरा के झूमी हँसीं पोखरें
> 'पी कहाँ पी' से गूँजी है सारी बहार
> ये जो चारों तरफ तर लचक दीखती
> बह रही है मलय-मुख चिबुक मोड़ती
> इन आवारा आँखों को क्या दोष दूँ
> यह जो हर ओर भरती कसक होड़-सी
> यह जो जूही के अंगों से है झाँकती
> चमक पटबीजनों की जगमग अपार
>
> —शिवनारायण सिंह 'सुयोगी'

खेत कुछ उठे-से लगते हैं, क्योंकि वर्षा के खेतों की उठान बड़ी घनी होती है। देखने को लगता है जैसे आकाश धरती के पास आ गया हो। कवि उसे जवानी कहता है। कभी-कभी चंदा निकलता है तो बड़ी सुहानी चांदनी निकल आती है। पपीहा बोल रहा है। वह तो निरंतर बोलता है। उसे हर ओर भीगी-भीगी-सी कंपन-भरी लोच दिखाई देती है। जूही के अंगों में से पटबीजनों की चमक झांकने लगती है।

कवि के शब्दों में हमें यौवन का रस मिलता है। नयी कविता में भावों को मध्यकालीन सरल अभिव्यक्ति का सा आसरा कम मिलता है। भारतेन्दु की परंपरा में ऐसी ही कविता का विकास संभव लगता है।

खेतों के बीच में जल डोलता है, ऐसा लगता है जैसे छाती के झोलों में रस डोल रहा हो। इस कवि के शब्दों में मचलती रवानी हमें बहुधा मिलती है। जब लहर पर

लहर हमें चढ़ती मिलती है तो सुन्दर दृश्य उपस्थित होता है :

यह खेतों के बीचों में जल डोलता
लगता छाती के झोलों में रस डोलता
लहर हर लहर पर चढ़ी हो मगन
मन की गागर में सावन है रँग घोलता
तिनका-तिनका चूता है अटरिया का अंग
कहीं टूटी है बिजली उठी है पुकार...

प्रतिध्वनि गुँजाकर वह कहता है :

प्यार-गलियों में पायल के घुंघरू बजे
मन के पत्ते मगन ताल दे दे नचे
लो गीत के ढाल पर कुछ इशारे हुए
काली आँखों में डोरे गुलाबी खिचे
बाँह में बाँह भरने को बेकल मँदार
सतरंगा हुआ है ये हड्डी का झाड़...

और :

मौज की डोर में मन का झूला पड़ा
पैंग आशा की छूती क्षितिज का सिरा
डाल पर कूकी कोयल चुकी हूक भर
लो उमड़ती जवानी का मचला जिया
उमंगों में भर है लचकती कमर
उरोजों में यौवन का फैला कछार...

इस नयी उपमा के उपरांत वह कहता है :

महक छोड़ती लट में मुखड़ा छिपा
काली आँखों में अपनी जवानी घुला
गोरी बाँहों का लेकर सहारा बढ़ूँ
जो है मुझको मिला वह ही तुझको मिला
सुनहली घटाओं की नीली किनार
दो उठा! आज असमय न रोके ये लाज...

—शिवनारायण सिंह 'सुयोगी'

नर और नारी के संबंधों को वह समान मानता है। पुरुष और नारी दोनों ही को सृष्टि के सौंदर्य को परखने की एक ही सी वासना प्राप्त हुई है। अतः परस्पर द्वैत होने की आवश्यकता ही क्या है? दोनों में परस्पर व्यवधान क्या है?

इस दृष्टिकोण से, इतनी मुखरता से, कम ही नये लेखकों ने लिखा है। सुयोगी में हमें संकोच नहीं मिलता, क्योंकि उसमें स्वस्थ चिंतन है, कलुषित नहीं।

प्रेम जब वेदना से भर जाता है तब कवि की आत्मा को अपने हर आंसू में प्यार का ईमान दिखाई देने लगता है। यह कल्पना बड़ी चुभीली है। प्यार का भी एक मन होता है और वह विश्वास में जीवित रहता है। कवि की कोमल भावना बड़ी सरस है :

> हर गान मेरा, प्राण की पहचान है,
> हर अश्रु मेरा, प्यार का ईमान है।
> जब मेरु-सा तन बँध गया लघु श्वास में,
> प्रिय प्यार का मन भी बँधा विश्वास में।
> है बंद बिजली बादलों की बाँह में,
> स्वर सात बन्दी एक कवि की आह में।
> जब बादलों से भीगता आकाश है,
> तब जागती मरु के हृदय की प्यास है।
> हर प्यास प्रिय के पंथ की पहचान है,
> हर पंथ राही के हृदय का गान है।
>
> —शिवबहादुर सिंह

संगीत की अनंत मधुरिमा कवि की वेदना में रहती है, जिस प्रकार बादल के भीतर बिजली होती है। जब व्यापक में सरसता दिखाई देती है, तभी अभावात्मक जीवन को अपने अभाव को दूर करने की चाहना होती है। दार्शनिक दृष्टिकोण से यह तथ्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है। अतृप्ति ही प्रेम की व्याकुलता का शमन करती है। शिवबहादुर सिंह की कविता में इस प्रकार की बहुत-सी बातें अनायास मिल जाती हैं जिनकी ओर कवि पहले से कोई संकेत नहीं करता।

किन्तु एक बात हम अवश्य पाते हैं कि नागरिक कवि को ग्राम-चित्र अच्छे लगते हैं। यह तो ठीक भी है, क्योंकि प्रकृति को स्वतन्त्र छूट ग्राम में ही प्राप्त होती है। ऐसा ही एक आकर्षक चित्र है :

> आम और जामुन के श्यामल फूले-फूले कुंजों में
> झूल रहीं झूला किशोरियाँ हिलमिल हर्षित पुंजों में,
> ऊपर तड़-तड़ ध्वनि से मंजुल करती कोमल रंगरेली
> पत्तों पर पड़ रहीं मेघ की बूँदें मोती-सी उजली,
> लो फिर घुड़ड़-घुड़ड़-घुड़ करता घिर घन-पुंज घुमड़ आया,
> रिमझिम-रिमझिम बरस रहा जल हरा-भरा सावन आया।
> बिदा करा निज प्राण पिया को सैके से वह ग्राम युवक
> चला जा रहा हरे-भरे वन की पगडंडी से निधड़क
> बजा रहा है मधुर बाँसुरी तान छेड़ मतवाली-सी

पीछे-पीछे चली जा रही लाल ओढ़नीवाली-सी।
आज प्रेमियों के हित सावन नये सँदेसे है लाया।

—रामेश्वरलाल खण्डेलवाल 'तरुण'

इसमें किसी एक व्यक्ति की बात नहीं, साधारणतया सावन किस प्रकार प्रेमियों के लिए नये संदेश लाता है, यही भाव मुखर हुआ है। कालिदास के युग में भी इसी प्रकार का चित्रण होता था, जिसमें हम किसी व्यक्ति-विशेष को न पाकर भी, अपने सामने किसी भी चित्रित पात्र से तादात्म्य कर लेते हैं। इसके उदाहरण हमें रीतिकालीन कविता में भी मिल जाते हैं।

नयी कविता में संगीतात्मकता के विषय में हम लिख चुके हैं। जानकीवल्लभ ने 'मेघरंध्र में मंद्र सांद्रध्वनि द्रिम-द्रिम-द्रिम उन्मद मृदंग की' ही नहीं लिखा, उसने अन्यत्र कहा है :

बजी आज घन में!
चरण-रणन ध्वनि-प्रतिध्वनि गुंजती जो मन में!!
सर छलका, सरि उमगी,
पुलकित अवनी-वनी;
टुक झुक-झुक झूम रहा
गगन जीवन-धनी,
कौन मौन हेर रहा—टेर कहाँ वन में!
सुर-लय में बँधने को
आतुर उर-भावना
कौंध रही, काँप रही,
झाँक रही उन्मना,
झर-झर-झर बिखर रही यह क्या कण-कण में!
बजी आज घन में।

—जानकीवल्लभ शास्त्री

ऐसी कविताओं में शब्दों पर अपूर्व अधिकार दिखाई देता है। रूप की कल्पना ही ऐसी रचनाओं का प्राण बनती है। इसके साथ ही अन्य कवियों ने मेघ को अनेक पर्यायों के रूप में लिया है। बादल संसार में अपना बहुत महत्त्व रखता है। उसकी विध्वंसक शक्ति को देखिए :

सनातन रूढ़ियों में फंसकर जब पर नहीं उठता, तब अपने देश को बढ़ाने के लिए अपना कवि-रूप पाता हूं। जल और विद्युत् धारण करनेवाले मेघ-सा कवि मैं कभी नीर बरसाता हूं, कभी बिजली गिराता हूं।

—मुरलीधर श्रीवास्तव 'शेखर'

ध्वंस एक नये निर्माण के लिए है। इस जगह व्यक्ति केवल अकेला नहीं है।

यहां 'मैं' 'अहं' नहीं है, व्यक्ति का नया रूप है।

स्वयं वर्षा ऋतु के भी नये रूपों का उल्लेख प्राप्त होता है। महीना पुरुष है और इसीलिए नरेन्द्र ने बड़ी कोमल कल्पना की है। उसने आषाढ़ को ही अपना नायक बनाया है। जामुनों से पेड़ लद गए हैं, वह मानो उसकी पगड़ी है, जिसके छोर उड़ रहे हैं :

पकी जामुन के रँग की पाग
बाँधता आया, लो, आषाढ़ !
हर्ष - विस्मय से आँखें फाड़
देखतीं कृषक सुताएँ जाग
नाचने लगे रोर सुन मोर
लगी बुझने जंगल की आग,
हाथ से छुट् खुल पड़ती पाग,
झूमता डगमग पग आषाढ़ !
ज़री का पल्ला उड़-उड़ आज
कभी हिल झिलमिल नभ के बीच
बन गया विद्युत-द्युति, आलोक
सूर्य-शशि-उडु के उर से खींच !
कौंध नभ का उर उड़ती पाग
झूमता डगमग पग आषाढ़ !

—नरेन्द्र

गांव की लड़कियां इस नये पुरुष को देखकर पुलक-विस्मित हैं। मोर रोर कर रहे हैं। पगड़ी खुल-खुल जाती है—कहकर कवि ने हवा में कांपते जामनों का सजीव चित्रण उपस्थित कर दिया है। बिजली उस पगड़ी की ज़री है ! और भीगा हुआ आषाढ़ झूम रहा है। इसी प्रकार एक कवि-हृदय ने कहा है।

सखि ! सजल घटाएं घिर आईं। तिमिर केश विद्युत् उलझाये हैं।...... अश्रु को लेकर बदली भागी है, कण-कण में नयी चेतना जाग उठी है। हे सखि ! स्नेह से तोलती चलो, इस जीवन का कुछ मोल चुकायें।

—कुमारी रूपकुमारी बाजपेयी

बादल घने बालों की भांति है, काले हैं, बिजली उनमें उलझ गई है। जीवन का मोल चुकाने का आवाहन है। इस विषय में पुरुष इतना तत्पर नहीं जान पड़ता, जितनी नारी। आखिर क्यों ? क्या नारी ही सारा ऋण अपने ऊपर लिए हुए है ? इसका एक कारण है। यद्यपि प्रकृति के उद्दीपन पक्ष ने मध्यकालीन काव्य में पुरुष कवियों के माध्यम से स्त्री पात्रों को अधिक विचलित होते हुए दिखाया है, परन्तु सत्य यह है कि नारी इतनी स्वतन्त्रता नहीं प्रकट कर सकी है जितनी कि पुरुष। यह हमारे

संस्कारों की बात है। आधुनिक यौन सम्बन्धों का इसपर गहरा प्रभाव है। समाज के अनेक चित्र नये काव्य में आते हैं और उनकी अभिव्यक्ति भी अपने नये ढंग से होती है :

पीपल की डाली झुक आ री
मैं टुक झूला झूलूँगी !
देवराज—गजराज गगन से बंजर-उर्वर सींच रहा ;
वृन्द वकों का पङ्ख फहफहा हौले-हौले फींच रहा,
टँकी बुँदकियाँ वीरबहूटी मखमल-सी यह कोमल घास
आ रे भैया, तू कदम्ब वन, फूलपात से भर आकाश,
मैं सुरभित कोंपलें बिछाकर
ताल - तलैयाँ छू लूँगी !
मेरा भैया है कदम्ब, मैं
बहन केतकी, फूलूँगी !!
राखी का त्यौहार मनाने भीगा ही आया भागा
पर सावन के पूनम को दे कौन बाँध सुरधनु-धागा ?
तू भाभी लाए तो वह नभ भी उतार धरती पर ले,
छीने मेरे नेग-जोग, तेरी सुधबुध चुपके हर ले,
युग-युग जिए, बलैयाँ लूँ,
मैं भी क्या तुझको भूलूँगी ?
पीपल की डाली झुक आ री
मैं टुक झूला झूलूँगी !

—जानकीवल्लभ शास्त्री

इतनी सुन्दर कविता बहुत कम हैं। बड़ी ही सरलता है, पारिवारिकता है ; प्रकृति का अत्यन्त सान्निध्य है, लोकगीत की सुषमा है और कल्पना भी नवीन है, यद्यपि बात को पुरानेपन में रंगकर नया किया गया है, और यह और भी अधिक आकर्षक है। सारे सावन का चित्र आंखों के सामने घिर आता है। ऐसे सजीव चित्र या तो राजस्थानी काव्य में मिलते हैं, या फिर जानकीवल्लभ में। वह एक श्रेष्ठ वैयक्तिकता है जो अपनत्व नहीं छोड़ती, परन्तु बड़ी व्यापक होती है। रेवतदान के अनेक चित्र ऐसे ही आकर्षक हैं।

जिस प्रकार यूरोपीय साहित्य में चरागाहों के जीवन की मस्ती मिलती है (जिसे भूल से सूर साहित्य में भी Pastoral कहकर ढूंढ़ा जाता है) उसी प्रकार राजस्थानी कवियों में भी हमें रंगों की प्रचुरता और मस्ती भरी हुई मिलती है :

फूल उठी सावन की संध्या नभ पर फूली रे
गगन गुलाबी,

कुंकुम नाभी,
हरी-भरी धरती हरषाती
उतर रही भेड़ों को लेकर
शिखर ढाल पर 'रुक्खो' गाती
और मौलश्री की डाली पर कोयल झूली रे !
पंछी उड़ते,
थके, उतरते,
अपने सुन्दर पंख हिलाते
अलगोजे पर तान मिलाते
'रज्जो' 'भानू' आल्हा गाते
मारग' चलती रुकी 'अहीरन' सुधबुध भूली रे।
रवि अंस्ताचल
वात सुचंचल
मुखरित है मर्मर का गुंजन
'अंधकार बढ़ता आता है'—
देख रही पनघट पनहारिन
खींच रही कुछ भाव-चितेरी ले मन तूली रे।

—शलभ

शलभ ने सब कुछ बाहर का कहा है, परन्तु उसका सब 'बाह्य' मन को कितना छूता है ! सावन की संध्या एक फूल की भांति आकाश में दिखाई है। फूल गुलाबी है, किन्तु उसकी नाभि सुनहली है। इसके बाद वह धरती पर उतरता है। तनिक शांत रहकर चित्र को मन में उतार लीजिए। सुनहले गर्भ का गुलाबी पंखरियों का फूल है एक आकाश में और नीचे हरे-भरे जगमग पहाड़ पर सफेद भेड़ें उतर रही हैं और मौलसिरी की डाली पर कोयल बोल रही है। पक्षी उड़े जा रहे हैं, अलगोजों पर तानें छिड़ रही हैं। रेवतदान कहता है—

ठुमुक-ठुमुक पग धरती नखरा करती
हिबडो हरती, बींद पगलिया धरती
छम छम आवै
बिरखा बीनणी !

इसी प्रकार निंदियारे नयनों से एक कवि पावस की झूलती घटाएं देखता है :

छाये पावस के मेघ कारे कजरारे।
युग-युग से प्यासे पातों के अब अधर धुले

घन में सोई पीड़ा के गीले नयन खुले
मुस्काती पास तड़ित अंचल की ओट किये
बरसे बन-बनकर अश्रु अम्बर के तारे
उस पार कहीं मोरों की मधुर मल्हार उठी
सूनी डाली पर पी की करुण पुकार उठी
हर ओर हरी चूनर ओढ़े कोई लगता
ये देख न पाते नैन भीगे, निदियारे—

—जगतप्रकाश चतुर्वेदी

नयन डबडबा जाते हैं, गोया बरसात भीतर-बाहर एक हो गई है। एक कवि नयन की गरिमा में बरसात को डुबाता हुआ कहता है :

आंख में आंसू डूब न जाये, सावन क्या कहेगा ? इतना प्यार दो कि मंदिर डोल जाये, ऐसे कि तुम तो न बोलो परन्तु प्रतिमा बोल जाये।······ सृष्टि के सारे नयन तो मुस्कान का वरदान लाये हैं, किन्तु मुझको आंख में सजल बादल मिला है।

—मुकुटबिहारी 'सरोज'

जानकीवल्लभ शास्त्री ने कहा है कि स्वाति का मेघ प्यास नहीं बुझा सकता। दूर देश के वासी किसीकी आशा को पूर्ण नहीं कर सकते।

परन्तु चलो ! अब बादल को बुला लाएं। बहुत देर हुई। कुछ हमारी भी तो इच्छा पूरी हो। हमारा कहा क्या वह मानेगा नहीं ? हम उसे इतनी दूर रखे ही क्यों ? हमारे मन में अंधियारा है तो क्या ? मेघ में विद्युत् भी तो है ! उससे अपने मन में उजाला क्यों न भरने को कहें ? सूनापन क्या दूर नहीं होगा ? कवि कहता है :

बरसो-बरसो रसधर बरसो।
इस आँगन में जलधर बरसो।
तुम बिजली की मुस्कानों से मेरा सूना अंतर भर दो
तुम प्यार-भरे मधु बोलों से मेरा मानस मुखरित कर दो।
तुम मेरे प्यासे अधरों पर जलधर बरसो······
इस जीवन के सूने नभ में बादल के फूल खिला दो तुम
अपनी चितवन से रस बरसा जीवन का जाम पिलादो तुम
धरती पर नयी चेतना बन मधुरस बरसो······

—शिवचंद्र नागर

यह मेघ आया था ! तब एक कंपन-सा भर आया था। जेठ की तपन के बाद इसे देखा था तब कितना सुन्दर लगा था। घनश्याम ने छाया की तुलना की है चकोर के पागलपन से, और वास्तव में वह नयी बात है :

ढल गई दुपरिया जेठ मास की चुपके से,
नीले असाढ़ का अम्बर कजराया-सा है।
छिप गई वधू-सी लाज मारकर स्वर्ण धूप
शीत-रजत बादलों के घूँघट में पल-भर को,
हैं दौड़ रही कजरारी छाया धरती पर
अंबर में बहते श्याम-सलोने बादल की,
हो दौड़ रहा जैसे चकोर का पागलपन
उस कभी न मिलने वाले विधु की आस किये।
लेकर मादक मल्हार गुलाबी अधरों पर
मुस्करा उठी धरती पसार शरबती नयन
झुक गईं डालियाँ, आम वृक्ष की लाज-भरी
नत नयन किसीकी आकुल मौन प्रतीक्षा में।

—घनश्याम अस्थाना

घनश्याम में रूप की बड़ी रंगीन अनुभूति है। उसकी आंखों में गुलाबी अधर हैं, और नयन हैं शरबती। कौन-से रंग का शर्बत! नहीं! यहां 'सुस्वादु' की अभिव्यक्ति में जो मिठास है, उसे वह रंगों के बीच में रखकर, नयनों के साथ-साथ अन्य तृप्तियां भी देता चलता है।

धीरे-धीरे फुहार गिर रही है। कोई दूर-दूर हटता हुआ गाता चला जा रहा है। दूरागत ध्वनि सुनने में और भी अधिक आकर्षक लगती है और वह भी तब जब उसे सुनने में ध्यान केन्द्रित करना पड़े :

मन्द-मन्द आज हो रही फुहार री,
दूर-दूर कोई गा रहा मल्हार री।
आज नैन-सा गगन हुआ सजल-सजल,
बादलों का हरसिंगार है तरल-तरल।
फूल-फूल आज झर रहा, निहार री!
मन्द-मन्द गंध की हुई फुहार री!
मौन-मौन भीगती धरा हरी-भरी,
डाल-डाल भीगती खगी डरी-डरी।
पीउ-पीउ कर किसे रही पुकार री?
मन्द-मन्द प्रीति की हुई फुहार री!
जाग-जाग जुगनुओं-सा बुझ रहा है कौन?
झाँक-झाँक बादलों में छुप रहा है कौन?

विद्यु' कर रही सलज-सलज सिंगार री !
मन्द-मन्द रूप की हुई फुहार री !

—जगतप्रकाश चतुर्वेदी

यहां पावस का कौन-सा रूप रह गया ? एक रह ही गया । वह है वेदना की अनुभूति । पर वह अन्यत्र है :

मेघों की यह अश्रुमाला, अवनी की वरमाला बनती हुई, कृषकों के खेतों में, वनों में हरियाली बनकर फूट पड़ी है। बागों में अब झूला डालकर सखियाँ निराले गीत गा रही हैं । पर मेरी आंखें बरस रही हैं । क्योंकि साजन दूर हैं ।

—हीरादेवी चतुर्वेदी

यों पावस के सारे रूप ही लगभग सामने आ गए । पावस के बाद शरद् आई । शरद् ने प्रकृति को नया रूप दिया। किन्तु जिस रूप में नयी कविता में फागुन से पावस तक का समय आता है, वैसा और ऋतुओं का प्रायः नहीं आता । हम कह सकते हैं कि नया कवि प्रकृति के उसी रूप को अधिक देखता है जिसमें उसे रूप-शोभा, नव जीवन-विकास या हलचल का कोई स्वरूप दिखाई देता है । अन्यथा वह प्रकृति से अपना रागात्मक संबंध नहीं जोड़ पाता । हम यह नहीं कहते कि अन्य समय का वर्णन वह नहीं कर पाता, अवश्य ही सुन्दर करता है, किन्तु उसका स्वर उस समय बदल-सा जाया करता है :

**क्वार की स्निग्ध शरबती शाम
मद-भरी देह की अँगड़ाई-सी
सफेद कागज़ के टुकड़े-से बादल
किरन-सी हल्की पुरवाई भी
धूल से उठती हुई गंध
मन से उठती हुई सदाएँ भी
नयन ख़ामोश झुकी-सी पलकें
ताज़गी-सी आ रहीं दुआएँ भी
पारिजात की कलियाँ मुँदी हुई
जूही की अधखिली जवानी भी
शबनम की मिट रही रोशनी
फैल रहा रंग आस्मानी भी
मैं अपनी कविताएँ लिखता
सूख रही है हल्की स्याही
गरम-गरम पानी से उमंग में बावलि
सरिता - सरोवर भी छिपिर - छिपिर**

केले के खंभे-सी ज़िदगी तनी हुई
पातों पर शबनम की टिपिर-टिपिर

—शिवमूर्ति 'शिव'

अन्त में हम कह सकते हैं कि नया कवि बहुत जीवित है, परन्तु उसके जीवन की अनुभूति में एक ही दोष है कि वह अभी अपने दृष्टिकोण को स्थिर नहीं कर सका है। पर हम जा भी तो नये युग की ओर रहे हैं। कौन जाने हमारी इस हलचल में से ही वह नया युग अभी और निकलने को है, जिसे अभी हम पूरी तरह से समझ नहीं पा रहे हैं।

◇ ◇ ◇